युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

वैदिक संस्कृति का उद्घोषक

वैदिक सार्वदेशिक

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली का साप्ताहिक मुख-पत्र

शुल्क :- एक प्रति 5 रुपया (भारत में) वार्षिक 250 रुपये तथा आजीवन 2500 रुपये

वर्ष 17 अंक 15 कुल पृष्ठ-16 18 से 24 अगस्त, 2022 दयानन्दाब्द 198 सृष्टि सम्वत् 1960853123 सम्वत् 2079 आ. कृ.-15

आजादी के अमृत महोत्सव में महर्षि दयानन्द व आर्य समाज के योगदान की उपेक्षा आर्यों की भावनाओं के साथ खिलवाड़ है

प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने स्वतंत्रता दिवस पर लाल किले से दिये अपने भाषण में महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं आर्य समाज तथा आर्य बलिदानियों का नाम न लेकर सभी आर्यजनों के हृदय को पहुँचाई ठेस

आर्य समाज के पदाधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं से विनम्र अपील

आजादी के आन्दोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्य समाज एवं आर्य वीरों के योगदान को जन–जन तक पहुँचाने के लिए स्वयं कमर कसें

- *स्वामी आर्यवेश*

आजादी का
75
अमृत
महोत्सव

आजादी के 75 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में पूरे देश में आजादी का अमृत महोत्सव बड़े ही धूमधाम एवं उत्साहपूर्ण वातावरण में मनाया गया है। आजादी के इस अमृत महोत्सव को केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारें अपने–अपने तरीके से मनाकर औपचारिकताएँ पूरी कर चुकी हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि स्वतंत्रता आन्दोलन के पुरोधा, अनेक क्रांतिकारियों के प्रेरणा स्रोत महर्षि दयानन्द सरस्वती, उनके गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी व अनेकों आर्य बलिदानियों जिन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर करके स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया उनकी उपेक्षा की जा रही है और हम सब इस प्रकार की उपेक्षा को सहन कर रहे हैं।

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के विफल हो जाने के बाद पूरे देश में आजादी की चिन्गारी को पुनः प्रज्ज्वलित करने का कार्य स्वयं स्वामी विरजानन्द दण्डी ने अपने हाथ में लिया और युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी अज्ञात रहकर क्रांति की ज्वाला को जन–जन में फैलाया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना करके जहाँ समाज में फैली हुई तमाम कुरीतियों को दूर करने का अभियान चलाया वहीं वे देश को जोड़ने का अथक प्रयास भी करते रहे। उन्होंने विभिन्न जाति, भाषा व मजहब में बंटे हुए देश को एकजुट करके देश की आजादी के लिए तैयार किया और स्वराज्य का मूल मंत्र पूरे राष्ट्र को दिया। सन् 1877 में इसी उद्देश्य से महर्षि दयानन्द ने दिल्ली दरबार के नाम से विभिन्न मत–सम्प्रदायों एवं संगठनों के नेताओं को आमंत्रित करके स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए एकजुट होकर कार्य करने की पहल की।

महर्षि दयानन्द जी की प्रेरणा से ही आर्य समाज के अनेक कार्यकर्ता, संन्यासी एवं क्रांतिकारी देश की स्वतंत्रता के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान मरते दम तक देते रहे। स्वतंत्रता आन्दोलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वालों में अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द, लौह पुरुष स्वामी स्वतंत्रानन्द, शेरे पंजाब लाला लाजपत राय, श्यामजी कृष्ण वर्मा, भाई परमानन्द, शहीदे आजम भगत सिंह व उनके दादा सरदार अर्जुन सिंह, अमर शहीद राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला खाँ, राजगुरु, सुखदेव व चन्द्रशेखर आजाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी स्वामी दयानन्द जी के अनुयायी थे। इन्होंने देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं की थी और अपना सर्वोच्च बलिदान दिया था। इतिहास साक्षी है कि निजाम हैदराबाद के अत्याचारों एवं उसके राष्ट्र विरोधी अहंकार को सर्वप्रथम आर्य समाज ने ही चुनौती दी थी, जिसके परिणामस्वरूप निजाम को बाध्य होकर अपनी रियासत को भारत में विलय करना पड़ा था। उक्त आन्दोलन में आर्य समाज के सैकड़ों वीरों का बलिदान हुआ था और तत्कालीन केन्द्र सरकार ने चार हजार आर्य सत्याग्रहियों को स्वतंत्रता सेनानी का ताम्र पत्र देकर सम्मानित किया था। किन्तु आज विडम्बना की बात यह है कि केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा देश के विभिन्न भागों में मनाये जाने वाले अमृत महोत्सव कार्यक्रमों में महर्षि दयानन्द सरस्वती, उनके अनुयायियों तथा आर्य समाज के योगदान की भूमिका की चर्चा न करके उनकी उपेक्षा की जा रही है। स्वतंत्रता आन्दोलन में आर्य समाज एवं महर्षि दयानन्द जी के योगदान की उपेक्षा को गम्भीरता से लेते हुए आर्य समाज की संस्थाओं ने देश के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, प्रान्तों के राज्यपाल एवं मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखकर महर्षि दयानन्द, आर्य समाज, एवं आर्य बलिदानियों की इस उपेक्षा के प्रति अपना रोष व्यक्त किया था। किन्तु 15 अगस्त को लाल किले से अपने भाषण के दौरान माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी द्वारा आजादी के आन्दोलन में योगदान देने वाले महान व्यक्तियों के नाम लेते समय आर्य समाज एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के योगदान की उपेक्षा करना सब आर्यों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाला कार्य है। इसलिए यह आवश्यक है कि आर्य समाज के तत्वावधान में आजादी के अमृत महोत्सव के सम्मेलन, विचार गोष्ठियाँ, जलसे व जुलूस जगह–जगह पर आयोजित करके आम जनता को आजादी के आन्दोलन में आर्य समाज तथा स्वामी दयानन्द जी के योगदान की पूर्ण जानकारी से अवगत कराया जाये। हम सबको भली–भांति समझ लेना चाहिए कि किसी दूसरे के सहारे कोई भी संगठन लम्बे समय तक जीवित नहीं रह सकता। अतः हमें स्वयं देश के स्वतंत्रता आन्दोलन एवं समाज सुधार के कार्यक्रमों में आर्य समाज की भूमिका को आम जनता के समक्ष प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करना होगा। इसके लिए सभी आर्य संस्थाओं के प्रमुख पदाधिकारी एवं कार्यकर्ता स्थानीय स्तर पर आजादी में आर्य समाज की भूमिका को समाचार पत्रों, सोशल मीडिया एवं यू–ट्यूब चैनलों के माध्यम से आम जनता तक पहुँचाने के लिए संकल्पबद्ध होकर कार्य करें। अब वह समय आ गया है जब आर्य समाज को संगठित होकर कार्य करना पड़ेगा और अपनी गौरवपूर्ण उपलब्धियों को जन–जन तक पहुँचाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर प्रचण्ड अभियान छेड़ना होगा। आर्य समाज प्रारम्भकाल से ही समाज व राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करता आया है। इसलिए अब हम सबकी और अधिक जिम्मेदारी बढ़ गई है कि अपने पूर्वजों की विरासत को सुरक्षित व प्रचारित–प्रसारित करने के लिए युद्ध स्तर पर कार्य करें। इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों की उपेक्षा केवल भाषणों से ही नहीं हो रही है बल्कि हमें पूरा संदेह है कि इतिहास के पृष्ठों से भी आर्यों के बलिदान व संघर्ष की गाथाओं को गायब किया जा सकता है। अतः आर्यों! महर्षि दयानन्द जी के अप्रतिम बलिदान एवं उनके हजारों अनुयायियों तथा आर्य समाज के स्वर्णिम इतिहास की सुरक्षा के लिए जागरूक होकर कार्य करना शुरू करें। शीघ्र ही देश के प्रधानमंत्री एवं राष्ट्रपति के नाम देश–विदेश के आर्यों के द्वारा लाखों पत्र एवं प्रस्ताव भेजने की आवश्यकता है, ताकि वे आर्यजनों की आहत हुई भावनाओं से अवगत हो सकें। आप सभी का इसमें सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। इन पत्रों के द्वारा हम पूरे राष्ट्र को यह अनुभव कराने की कोशिश करेंगे कि इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा और सच्चे राष्ट्र भक्तों एवं अपने प्राणों की बाजी लगाने वाले बलिदानियों की उपेक्षा घोर निन्दनीय है और ऐसा किसी भी कीमत पर हम सहन नहीं कर सकते। आशा है प्रत्येक आर्य महर्षि दयानन्द, आर्य समाज एवं आर्य महापुरुषों के प्रति अपनी सच्ची निष्ठा का परिचय देते हुए इस कार्य में एकजुट होकर अपनी आवाज उठायेंगे और अपनी शक्ति का परिचय देंगे। ●

समग्रक्रान्ति के प्रस्तोता महर्षि दयानन्द

– अशोक आर्य

इस आलेख की एक–एक पंक्ति लिखते समय मन पीड़ा से आप्लावित है। जिस महानात्मा ने बार–बार विष का सेवन करके भी भारत माता को हर प्रकार की परतंत्रता से मुक्त कराने का भागीरथ प्रयास किया और इस प्रयत्न में अपना बलिदान भी दे दिया, आज जब भारत की स्वतंत्रता के 75 वर्ष पूर्ण होने पर अनेकानेक कार्यक्रमों की श‍ृंखला का आयोजन किया जा रहा है, वहाँ स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा का सर्वप्रथम सन्देश देने वाले महामना को जो स्थान मिलना चाहिए था वह नहीं मिल सका। इसमें उनके शिष्य कहलाने वाले हम आर्यों का ही दोष है जो महर्षि के अप्रतिम योगदान को देशवासियों के समक्ष अंकित करने में असफल रहे। 1875 में जब कांगेस का जन्म अभी भविष्य के गर्भ में था, जिसने यह पंक्ति लिखी उसे आप क्या कहेंगे– 'जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आगे गो आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है।' पाठक निष्पक्ष होकर विचार करें कि क्या ऐसा कहने का, लिखने का साहस तत्कालीन अन्य किसी व्यक्ति में था?

तत्कालीन भारत में जब 1857 के दमनचक्र के पश्चात् शासकों के विरोध की भावना ही जैसे समाप्त हो गयी थी, तब ऐसे साहस पूर्ण वचन और ऐसे ही उपदेश करने वाले महात्मा को आप क्या कहेंगे? निश्चित ही भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का ध्वज वाहक।

अंग्रेजी शासन से मुक्ति प्राप्त करने हेतु सन् 1857 में भारत का प्रथम स्वतंत्रता युद्ध लड़ा गया। दावा किया जाता है कि इस स्वातंत्र्य ज्योति के प्रज्ज्वलन में तथा इसे जगह–जगह पहुँचाने में तत्कालीन साधु–संन्यासियों का बहुत बड़ा योगदान था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सन् 1857 के स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया था, ऐसा कुछ इतिहासकारों का मानना है। उनका कहना है कि स्वामी जी ने न केवल भाग लिया वरन् वे इस आन्दोलन के प्रमुख व्यक्ति थे। इन इतिहासकारों ने इसके प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। परन्तु आर्य समाज के प्रायः सभी इतिहासकारों ने इससे सहमति नहीं जतायी। पर इस बिन्दु पर एक बात अवश्य कसकती है कि आर्यसमाज के इतिहासकारों ने इस बात पर उस गहनता से शोध नहीं किया कि मथुरा पहुँचने से पूर्व इसी कालखण्ड में स्वामी जी की क्या गतिविधियाँ थीं? उनके जीवन का यह हिस्सा आज भी अज्ञात क्यों है? सोचिये कि अगर यह बात किसी अंश तक भी शोध कार्य में सामने आती कि स्वामी जी 1857 की क्रान्ति से किसी प्रकार सम्बद्ध थे तो स्वामी जी का देश में क्या स्थान होता? और क्या इस अज्ञातवास के इस कालखण्ड में झांकना उनके शिष्य इतिहासकारों के लिए आवश्यक नहीं था?

यहाँ हम यह स्पष्ट कर दें कि चाहे 1857 की उनकी गतिविधियाँ अज्ञात हैं फिर भी इसमें लेशमात्र भी सन्देह की गुंजाईश नहीं है कि आगे चलकर स्वामी जी ने जो कुछ कहा व किया उस प्रत्येक कार्य में, भारत माँ को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त करने की अभिलाषा इतनी प्रबल थी, माना ही नहीं जा सकता कि ऐसा व्यक्ति 1857 में अक्रिय रहा हो। स्वामी जी के समाज सुधार के सभी कार्यक्रमों, धर्म के सत्य स्वरूप की स्थापना, वेद मत को अपनाने का आग्रह, भारत के प्राचीन गौरव तथा स्वाभिमान की ओर भारतीयों का ध्यानाकर्षण, आर्यों के चक्रवर्ती साम्राज्य के सुदीर्घ इतिहास की सर्वत्र चर्चा, सृष्टि के आरम्भ से ही आर्यों द्वारा आर्यावर्त्त की स्थापना तथा आर्य भारत के मूल निवासी होने का सिद्धान्त और अपनी दैनिंदिन प्रार्थना में भी प्रभु से स्वराज्य की प्रार्थना (महर्षि दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थ आर्याभिविनिय में लिखा है– 'अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों, हम लोग पराधीन कभी न रहे।') और स्वराज्य को सर्वोपरि उत्तम घोषित करना, गौकृष्यादि रक्षिणी सभा की स्थापना आदि–आदि, इन सब कार्यों के पीछे और इन सबको साधन मानते हुए इनका लक्ष्य भारत की स्वतंत्रता ही था।

स्वामी दयानन्द केवल राजनीतिक ही नहीं समग्र क्रान्ति और सर्वसुधारों के जनक थे। तर्काधारित चिन्तन की बात भारतीय संविधान में तो लगभग 100 वर्ष बाद लिखी गयी दयानन्द ने तत्कालीन भारत में इसकी सर्वविध आवश्यकता को भलीभाँति जान लिया था इसलिए उन्होंने 'बाबा वाक्य प्रमाणं' के उन्मूलन का उद्घोष किया। इसके बिना दयानन्द की इच्छित समग्र क्रान्ति सम्भव नहीं थी। अतः जीवन भर स्वामी जी इसके लिए प्रयास करते रहे। उनका स्पष्ट मत था कि भारतीय समाज में जो अविद्या और अन्धकार ने पैर पसारा है यह सदा से नहीं था। यह अत्यन्त अर्वाचीन है और भारत में ऐसी मूर्खता से युक्त व्यवस्थाओं को कभी सम्मान नहीं मिला। अतःउन्होंने परमपिता परमात्मा की कल्याणी वाणी वेद, ऋषियों की सुविचारित मानव हितैषी मान्यताओं, भारत के प्राचीन गौरवमयी इतिहास के महत्व की स्थापना तथा प्राकृतिक न्याय के सहज सिद्धांतों के आधार पर समस्त अमानवीय, द्वेष–विस्तारक मान्यताओं का पुरजोर सफल खंडन किया, जिनके रहते कोई स्वराज्य कभी सुराज्य नहीं बन सकता है। हम स्वामीजी को समग्र क्रान्ति के जनक इसलिए कहते हैं कि मनुष्य मात्र की वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय उन्नति पर उनकी दृष्टि एक साथ थी। वह प्रत्येक क्षेत्र में मानव को स्वतन्त्र, स्वाधीन तथा उन्नत देखना चाहते थे। यही नहीं वे केवल लौकिक उन्नति पर ही नहीं रुक जाते हैं वरन् मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की साधना का मार्ग दिखाना वे कभी नहीं भूलते। उनके महान् ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में आप इस सब के प्रमाण एक साथ देख सकते हैं।

स्वामी दयानन्द बालक मूल शंकर के रूप में दो उद्देश्यों को लेकर गृह–त्याग करते हैं। प्रथम सच्चे शिव की खोज और द्वितीय मृत्यु पर विजय। और उनके जीवन का अध्ययन बताता है कि उन्हें ये दोनों लक्ष्य सिद्ध हो चुके थे। उन्हें लोक कल्याण के क्षेत्र में उतरने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जब उन्होंने एक ओर अमानवीय मान्यताओं के बोझ तले सिसकती मानवता को देखा, भारत के स्वर्णिम गौरव को धूल धूसरित होते देखा, ऋषियों की सन्तानों को तथाकथित पंडितों द्वारा निर्मित बुद्धिविरुद्ध पतन के मार्ग पर ले जाने वाली प्रथाओं में पिसते देखा, सहस्र वर्ष की पराधीनता के काल में विश्वगुरु के स्थान पर अभिषिक्त राम और कृष्ण के वंशजों को अपने गौरव को विस्मृति के गर्त में डालकर सहज भाव से उसी को अपनी नियति मानकर जीते देखा, तो उन्होंने निश्चय किया कि वे अपने मोक्ष की चिन्ता नहीं कर सकते, आर्यावर्त्त के प्राचीन गौरव की स्थापना ही उनका परम लक्ष्य है। विगत 5 सहस्र वर्ष में योगिराज कृष्ण के पश्चात् अगर आर्यावर्त्त की श्रेष्ठता की चिन्ता कर और उसे पुनर्स्थापित करने के दृढ निश्चय के साथ किसी ने अपने कर्तव्य का निर्धारण किया तो वे अकेले महर्षि दयानन्द सरस्वती ही थे।

उनके लिखे और कहे का अवलोकन कीजिए। सर्वत्र प्राचीन भारत पर गौरवान्वित संन्यासी के दर्शन आपको होंगे। सहस्रों उद्धरणों में से एक प्रस्तुत है– सत्यार्थ प्रकाश के 11वें समुल्लास में ऋषि लिखते हैं कि– 'यह आर्यावर्त्त देश ऐसा देश है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसीलिये सृष्टि की आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। इसलिए हम सृष्टिविषय में कह आये हैं कि आर्य नाम उत्तम पुरुषों का है और आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम दस्यु है। जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो झूठी है परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिस को लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।'

पाश्चात्यों के विद्याभिमान पर कुठाराघात करते हुए वे आगे लिखते हैं– 'जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त्त देश से मिश्र वालों, उन से यूनानी, उन से रूम और उन से यूरोप देश में, उन से अमेरिका आदि देशों में फैली है।'

स्वामी जी यह बात 1882 में लिख रहे हैं जिसमें उन गौरांग प्रभुओं के मुँह पर करारा थप्पड़ है जो पाश्चात्य विद्या और सभ्यता को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने के षड्यंत्र के तहत वेद को गड़रियों के गीत घोषित करना आवश्यक मान, ऐसा कर रहे थे। वे यह स्थापित करने में लगे थे कि वेदों में ऐसी ऊलजलूल बातें हैं जिनको पढ़कर लन्दन के विद्यार्थी हसेंगे। ऐसे समय में, जब यह सब सुनके भारत के सारे महापुरुष और श्रेयाकांक्षी नेतागण गौरांग प्रभुओं के मानसिक दास बन मूक अथवा प्रखर समर्थन करते हुए निद्रा की गोद में आनन्द ले रहे थे, दयानन्द ने घोषित किया कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। 'वेद का पढ़ना–पढ़ाना, सुनना–सुनना सब आर्यों का परम धर्म हैं।' दयानन्द जानते थे कि अंग्रेजों की समस्त मक्कारियों का एक ही उत्तर है और वह है वेद और वेद की शिक्षाओं का अवलम्बन। भारत की स्वतंत्रता और श्रेष्ठतम स्वराज्य की स्थापना का एक ही मार्ग है और वह वैदिक शिक्षाओं पर आधारित है इसलिए उनका नारा था वेदों की ओर लौटो।

वस्तुतः महर्षि इस मनोविज्ञान से भलीभाँति परिचित थे कि जब तक किसी जाति में दैन्यभाव उपस्थित रहता है उससे किसी क्रान्ति की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अंग्रेजों ने यही किया। भारतीयों के मन में अंग्रेजों की श्रेष्ठता और भारतीयों की विद्याहीनता को लेकर ऐसे दृढ भाव भर दिए थे कि साधारण लोगों की बात तो क्या कहें भारत के तत्कालीन नेतागण भी इसको आकण्ठ स्वीकार कर चुके थे। ऐसे लोग स्वतंत्रता के लिए स्वामी दयानन्द के सामान हुंकार कैसे भर सकते थे? हाँ मिमिया सकते थे और दया की भीख मांग सकते थे, जो कि वे नेतागण वस्तुतः कर रहे थे।

अंग्रजों की भारतीयों को लूटने और दुःख देने की सभी कोशिशों पर दयानन्द की पैनी दृष्टि थी। महंगे स्टाम्प, जंगलात की लकड़ियों पर और नमक जैसी आवश्यक वस्तुओं पर कर के बारे में स्वामी जी अनजान नहीं थे। वे 1874 में ही सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखते हैं – नोंन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं, किन्तु नोंन सबको आवश्यक है। वे मेहनत मजदूरी करके जैसे–तैसे निर्वाह करते हैं, उसके ऊपर भी नोंन का 'कर' दण्ड तुल्य ही है। इससे दरिद्रों को बड़ा क्लेश पहुँचता है, ... लवणादि के ऊपर (कर) न चाहिए।'

इसी प्रकार 'पौन' पर कर के बारे में लिखते हैं– पौन रोटी से भी गरीब लोगों को बहुत क्लेश रहता है। क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले आये वा लकड़ी का भार, उनके ऊपर कौड़ियों के लगाने से उनको अवश्य क्लेश होता होगा। इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं।'

इसी प्रकार स्टाम्प ड्यूटी के बारे में लिखा है– 'और सरकार कागज को बेचती है और बहुत सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है। इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं ....' (सभी उद्धरण सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण 11 समु. से) ध्यातव्य है कि नमक आन्दोलन के प्रणेता समझे जाने वाले मोहनदास करमचन्द उस समय मात्र 6 वर्ष के बालक ही थे।

अब स्वराज्य व स्वदेशी की बात भी कर लें।

1857 की क्रान्ति को कुचलने के पश्चात् अंग्रेज अफसरों ने भारतीयों पर जो जुल्म किये उन्हें पढ़कर आत्मा काँप जाती है। ब्रिटिश राज्य से भी यह बात छुपी नहीं रही। तब सिर्फ वाग्जाल बुनते हुए महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की जिसका आशय था कि वह भारतीयों को धार्मिक या अन्य प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगी।

इसका उत्तर देते हुए, उस समय जब कि अंग्रेजों के विरुद्ध बोलने में अच्छे अच्छों का नाड़ा ढीला होता था, स्वामी दयानन्द ने निर्भीकता के साथ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा– 'मतमतान्तरों के आग्रह से रहित, अपने–पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज पूर्ण सुखदायक नहीं है।' भारत के नौनिहालों को यह ध्यान रखना चाहए कि कांग्रेस की 1875 में स्थापना के 10 वर्ष पूर्व महर्षि दयानन्द ने यह बात लिखी थी। स्वराज्य का सम्पूर्ण श्रेय लेने वाली कांग्रेस के नेतागण अपनी स्थापना के कई दशक तक किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की स्तुति करते थे, स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नहीं लिख रहे।

स्वाधीन भारत की आधारशिला रखने के लिए भारत में स्वदेशी प्रचार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, अछूतों को गले लगाने का प्रचार, गोरक्षा, शिक्षा–प्रसार, स्त्रीशिक्षा, विधवा उद्धार आदि क्रान्तिकारी आवश्यक कार्यों का सूत्रपात महर्षि दयानन्द ने किया। यहाँ हम कुछ मनीषियों के कथन उद्धृत करना समीचीन समझते हैं जिनसे दयानन्द के राष्ट्रवादी स्वरूप का प्रत्यक्ष हो सकेगा–

एनी बीसेंट (प्दकपं दंजपवद) में लिखती हैं– 'स्वामी दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम 'भारत भारतवासियों के लिए' का उद्घोष किया।

ग्राहम जे रीड लिखते हैं– 'वे उन दिनों के देशभक्त थे जब देशभक्ति शब्द का प्रचलन नहीं हुआ था। कांग्रेस की स्थापना के पहले के वे हिन्दू राष्ट्रवादी थे। वे एक ऐसे भारत की कल्पना करते थे जो सब बुराइयों से मुक्त होगा और 1857 की घटनाओं के बाद स्वयं के निर्णयों पर चलेगा।'

'सचमुच वे भारतीयों के बीच विशिष्ट भारतीय थे और उन्होंने 'भारत भारतीयों के लिए' की इच्च्छा स्वयं में जगायी थी।

कविवर आरसी प्रसाद सिंह ने सत्य ही लिखा है–
जब स्वदेशी शब्द दर्शन–योग्य केवल कोष में था,
और हर पुरुषार्थ का अवसान चिर संतोष में था।
शान्त शीतल हो चुकी थी जब तरुण विद्रोह ज्वाला,
जब विदेशी राजसत्ता–कण्ठ में थी विजय माला।
दिव्य अपराजेय भारत–शक्ति ने तब जो पुकारा,
युग–प्रवर्तक, प्रथम निस्सन्देह वह स्वर था तुम्हारा।।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वदेशी की अवधारणा का श्रेय भी इसी वीतराग संन्यासी को जाता है। वे भारत में, व्यापार के क्षेत्र में अंग्रेज जैसे विदेशियों की भूमिका अवांछित व भारत की बदहाली का मुख्य कारण मानते थे। उनके समक्ष भारत की समृद्धि का इतिहास उपस्थित था जब विश्व भर में भारतीय व्यापारी तथा सामान की तूती बोलती थी। सात समन्दर पार जाने वाले भारतीयों में धर्म के नाम पर ऐसी स्थापना कि 'जो समुद्र पार गया उसका जानो धर्म भ्रष्ट हो गया' जिन लोगों की भी करतूत हो पर धर्म भ्रष्ट होने के भय से आर्यों के वंशजों का व्यापारिक साम्राज्य नष्ट हो गया। उस पर गुलामी की मार। देशी का स्थान विदेशी ने इस तरह ले लिया जैसे कि उसका नैसर्गिक अधिकार हो। युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द धर्मभ्रष्ट हो जाने की बात का स्पष्ट खण्डन करते हुए लिखते हैं– 'जो मनुष्य देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में जाने आने में शंका नहीं करते वे देशदेशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति भाँति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकरण में महर्षि स्वदेशी के बीज का वपन कर देते हैं। वे लिखते हैं– 'क्या विना देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो विना दारिद्रय और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।' यहाँ अगर हम इस बिन्दु पर दयानन्द की पीड़ा और तर्क को समझ सकें तो स्वदेशी की उनकी प्रबल कामना स्पष्ट हो जायेगी।

अब स्वभाषा की बात भी कर लें। भाषा की एकता राष्ट्रीय एकता की जनक है इस बात को समझते हुए संस्कृत के महान् पंडित आचार्य दयानन्द ने अपने सर्व प्रमुख ग्रन्थ संस्कृत में अथवा अपनी मातृभाषा गुजराती में न लिखकर जनभाषा हिन्दी में लिखे। यही नहीं अपने व्याख्यान संस्कृत में देना छोड़कर हिन्दी में देने प्रारम्भ कर दिए, जिसे वे 'आर्य भाषा' के नाम से लिखते हैं। भाषा की पृथकता देश में विभाजनकारी हो सकती है यह दयानन्द ने काफी पहले समझ लिया था, परन्तु अंग्रेजी, अंग्रेज तथा अंग्रेजियत को श्रेष्ठ मानने वाले हमारे अन्य नेता इस तथ्य की अवहेलना करते रहे, नतीजा यह हुआ कि प्रान्तों का विभाजन भाषा के आधार पर हुआ और आज भी यह समस्या भारतीयों में कड़वाहट पैदा किये हुए है। यह स्वामी दयानन्द की बात न मानने का परिणाम है।

महर्षि दयानन्द के राष्ट्रीय विचारों के महत्व को अंग्रेज बहुत गहराई से अनुभव करते थे।

सन् 1911 की जनगणना के अध्यक्ष मि. ब्लंट लिखते हैं– 'दयानन्द मात्र धार्मिक सुधारक नहीं थे, वह एक महान् देशभक्त थे। यह कहना अधिक ठीक होगा कि उनके लिए धार्मिक सुधार राष्ट्रीय सुधार का ही एक उपाय था।' एक अन्य स्थान पर ये ही ब्लंट लिखते हैं– 'आर्य समाज के सिद्धान्तों में देशप्रेम की प्रेरणा है। आर्य सिद्धान्त और आर्य शिक्षा समान रूप से भारत के प्राचीन गौरव के गीत गाते हैं। ऐसा करके वे अपने अनुयायियों में राष्ट्र के प्राचीन गौरव की भावना भरते हैं।'

सत्यार्थ प्रकाश और महर्षि दयानन्द से प्रेरणा प्राप्त कर असंख्य जन स्वातत्र्य संग्राम में कूद पड़े थे। अगर इनमें से प्रमुख व्यक्तियों के नाम भर भी लिखे जायं तो भी एक पृथक् आलेख की आवश्यकता होगी। स्वतंत्रता के 75वें वर्ष में हम स्वातन्त्र्य भावों के प्रणेता युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी को श्रद्धा सहित स्मरण करते हुए, नमन करते हुए, यह अवश्य कहना चाहेंगे कि आज भारत राजनैतिक रूप से अवश्य स्वतन्त्र हो गया है परन्तु राष्ट्रीय चेतना आज भी शैशव काल में खड़ी अपने को पल्लवित और पुष्पित करने के लिए ऋषिवर आपकी ही बाट जोह रही है।

कविवर आरसी प्रसाद सिंह यही लिखते हैं–
हे विमल स्वामी, परम तत्वज्ञ मुनि, ब्रह्मात्मज्ञानी,
आर्य संन्यासी, सुधारक, गुरु दयानान्दाभिमानी।
राजनीतिक दासता से मुक्त हैं भारत निवासी,
चेतना राष्ट्रीय लेकिन आज भी है देवदासी।
स्वप्न भारत भारती का है अधूरा ही हमारा,
देश के सर पर चढ़ा है आज भी ऋषि ऋण तुम्हारा।।

– सत्यार्थ प्रकाश भवन, नवलखा महल, उदयपुर
चलभाश– ०६३१४२३५१०१, ०८००५८०८४८५

प्रथम स्वाधीनता संग्राम में स्वामी विरजानन्द और स्वामी दयानन्द का योगदान

—अमरेश मिश्र

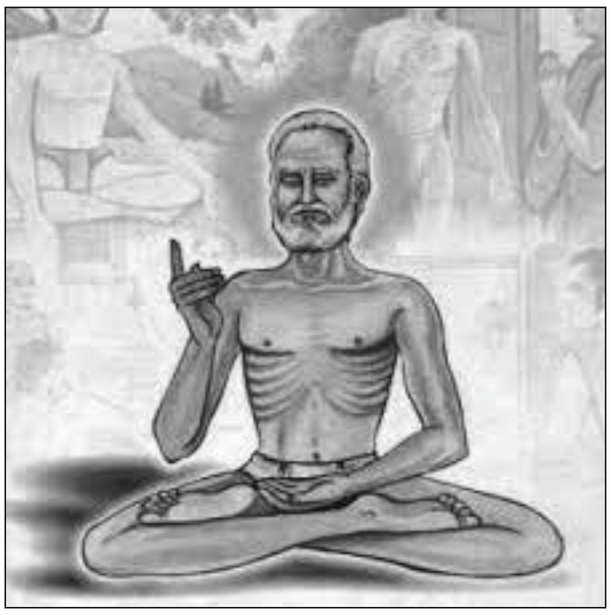

स्वामी दयानन्द ने १८५६ में हरिद्वार के नील पर्वत के चंडी मंदिर में डेरा डाला। वहां स्वामी रुद्रसेन ने उन्हें बताया कि भारत की जनता को जगाने के लिए आजादी के आंदोलन के नेता जल्दी ही चण्डी मंदिर आने वाले हैं। कुछ समय बाद तीन–चार अनजान लोग आए और उन्होंने पूछा कि स्वामी दयानन्द कौन है एकांत में बैठकर स्वामी ने उनके साथ लंबे समय क्रान्ति पर चर्चा की। उन पांच लोगों के कहने पर स्वामी जी ने साधु संगठनों को एकजुट करने का काम खुद अपने हाथ में लिया। उन्होंने स्वामी जी से कहा– महाराज ! पेशावर से कलकत्ता और दक्षिण में कर्नाटक तक हजारों भारतीय तैयार हैं, पर साधु समाज का काम अभी पूरा नहीं हुआ है। इन पांच लोगों के साथ दो और क्रान्तिकारियों ने स्वामी जी से संपर्क साधा। वे दोनों थे राजा गोविंद राय और रानी लक्ष्मीबाई। गोविंद राय उत्तर बंगाल के नादौर राज्य के मशहूर रानी भवानी वंश से जुड़े हुए थे। चंडी मंदिर पर उन्होंने बताया कि किस तरह उनका राज्य हड़प लिया गया। उन्होंने स्वामी जी को १,१०१ रुपए समर्पित किए। स्वामी जी उनसे कहते रहे कि उन्हें धन की जरूरत नहीं है, पर राजा गोविन्द राय ने उनकी एक नहीं सुनी। इसी दौरान झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और उनके तीन अन्य अधिकारी स्वामी जी से मिलते हैं। रानी ने आंखों में आंसू भर कर अपनी कहानी कही। उन्होंने कहा–महाराज, मैं एक विधवा हूं। अंग्रेजों ने ऐलान किया है कि वे आपकी इस बहन का राज्य हड़प लेंगे। वे झांसी पर बड़ी सेना के साथ हमला करने की तैयारी में हैं। जब तक मैं जिंदा हूँ तब तक मैं उन्हें अपना खानदानी राज्य हड़पने नहीं दूंगी। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं एक योद्धा के रूप में लड़ते हुए अपना जीवन बलिदान कर सकूं। उस बहादुर महिला के यह शब्द सुन कर स्वामी जी गद्‌गद हो उठे। उन्होंने कहा– देवी ! यह शरीर शाश्वत नहीं है। वे लोग भाग्यशाली हैं जिनका शरीर किसी कर्तव्य के लिए बलिदान हो जाता है। वे अमर रहते हैं। अपनी तलवार उठाओ और इन विदेशियों से साहस के साथ लड़ो। स्वामी जी का कहना था– जनता का नेतृत्व करना और आग से खेलना एक जैसा ही खतरनाक है। छोटी–सी गलती का मतलब है संपूर्ण विनाश। सावधान रहिए और आजादी का संदेश पूरे भारत में गोपनीय तरीके से फैलाया जाना चाहिए।

११ अक्तूबर १८५५ को हरिद्वार की सभा में स्वामी विरजानन्द ने भाषण दिया और मोहर सिंह को आजादी के योद्धा के रूप में आशीर्वाद दिया। सभा का आयोजन स्वामी पूर्णानन्द ने हरिद्वार की पहाड़ियों में किया था। इस सभा में ५६५ साधु शामिल हुए। इसमें १६५ मुस्लिम साधु और ३७० हिंदू साधु थे। इस सभा में नेत्रहीन संत स्वामी विरजानन्द के साथ उनके बाद में शिष्य रहे स्वामी दयानन्द भी मौजूद थे। उनके अलावा हरियाणा सर्वखाप के मंत्री या प्रमुख मोहनलाल जाट, सेना प्रमुख शिवराम जाट, उप सेना प्रमुख भागवत गूजर और पंडित शोभाराम भी उपस्थित थे। सर्वखाप के अधिकृत दस्तावेज लेखक और संदेशवाहक मीर मुश्ताक मिरासी भी वहां थे। हरियाणा सर्वखाप पंचायत पर हालांकि जाट समुदाय का आधिपत्य था, पर इसमें हरियाणा की सभी हिन्दू और मुसलमान जातियाँ भी भागीदार थीं। हरियाणा के पहलवान ब्रह्मदेव, जो जूनागढ़ अखाड़े के नागा योद्धा हो गए थे, त्यागियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जबकि पंडित शोभाराम बरेली से खान बहादुर खान के प्रतिनिधि के तौर पर आए थे।

सभा में फखरुद्दीन और स्वामी पूर्णानन्द ने अपने विचार व्यक्त किए। स्वामी पूर्णानन्द ने न सिर्फ धर्म के पालन पर जोर दिया, बल्कि राष्ट्र को ऊपर उठाने का भी आह्वान किया। स्वामी विरजानन्द ने स्वामी दयानन्द से कहा कि शास्त्र और अध्यात्म समझने से पहले वे अपना समय राष्ट्र को ऊपर उठाने में लगाएं। दरअसल स्वामी दयानन्द कुंभ मेले में स्वामी पूर्णानन्द से मिले थे और उनसे वेद–शास्त्र सिखाने का आग्रह किया था। इस पर पूर्णानन्द ने कहा था कि वे तो बूढ़े हो चले हैं, पर उनके शिष्य विरजानन्द उन्हें सिखाएंगे।

मोहर सिंह को साथ लेकर स्वामी दयानन्द तुरंत स्वामी पूर्णानन्द के आश्रम पर गए और वहां एक गुप्त बैठक हुई। उसमें बिजरौल (मेरठ) के जाट दादा शाह मल (४२), ढकौली के चौधरी दया सिंह जाट, बहादुर शाह जफर के प्रतिनिधि, नाना साहेब, तात्या टोपे, राजा कुंवर सिंह, बेगम हजरत महल, रंगो बापूजी और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई मौजूद थीं। यहां मोहर सिंह का नाम शामली के जाट चौधरी के रूप में दर्ज है। यह बात रोचक है क्योंकि मोहर सिंह शामली गए थे, जहां उनकी मुलाकात देवबंद के मौलाना मोहम्मद कासिम ननौतवी और सहारनपुर के वलीउल्लाह संप्रदाय के अन्य विद्वानों से हुई थी।

१८५६ में हुई एक अन्य बैठक का जिक्र यहां महत्वपूर्ण है। मथुरा में हुई इस बैठक में स्वाधीनता संग्राम के सारे बड़े नेता मौजूद थे। इसका नेतृत्व स्वामी विरजानन्द कर रहे थे और इसकी कार्यवाही मीर मुश्ताक मरासी दर्ज कर रहे थे। मिरासी का वर्णन बेहद रोचक है– १८५६ सन् यानी संवत १९१३ मथुरा में एक पंचायत हुई। इस बैठक में हिन्दू, मुसलमान और अन्य समुदाय के लोगों ने हिस्सा लिया। पंचायत में नेत्रहीन साधु विरजानन्द को पालकी में लाया गया। जब वे पहुँचे तो वहां मौजूद सभी लोगों ने उन्हें सम्मान दिया। जब वे मंच पर बैठे तो सभी हिन्दू और मुसलमान फकीरों ने आदर देने के लिए उनका पैर चूमा। नाना साहेब पेशवा, मौलवी अजीमुल्लाह खान, रंगो बापू और बादशाह बहादुर शाह जफर के बेटे ने उन्हें सम्मान के साथ अशर्फियां भेंट कीं।

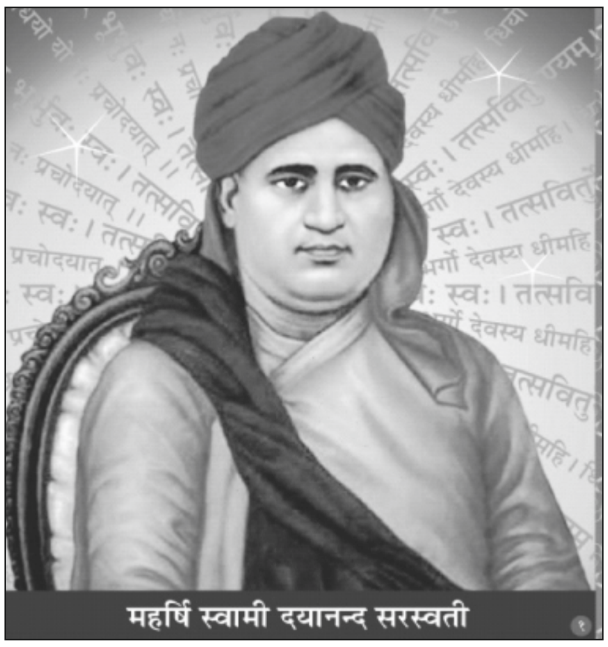

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

इसके बाद स्वामी विरजानन्द ने अपनी बात शुरू करते हुए पहले ईश्वर की वंदना की। फिर उन्होंने कहा–स्वाधीनता ही संपत्ति है और गुलामी छल है, एक धोखा है। देश पर स्थानीय लोगों का शासन विदेशी लोगों के शासन से सैकड़ों गुना ज्यादा बेहतर है। दूसरों की गुलामी अपमान और शर्म का कारण होती है। ये क्रूर लोग हमारी जनता पर जबरदस्ती शासन कर रहे हैं। वे हमारे राजाओं का अपमान करते हैं। ये क्रूर लोग हमारी जनता पर जबरदस्ती शासन कर रहे हैं। वे हमारे राजाओं का अपमान करते हैं। हमारे लोगों से जानवरों जैसा व्यवहार करते हैं। ईश्वर की नज़र में सभी लोग बराबर हैं, पर ये क्रूर विदेशी उन्हें बराबर नहीं मानते। विदेशियों में कुछ अच्छाइयाँ जरूर हैं पर सच्चाई यह है कि मामले के भीतर झांकिए तो उनका सुर बदला मिलता है। वे हमारी नेक सलाह और कुदरत की अच्छाइयों को खारिज कर देते हैं। इसीलिए हम इस धरती के लोगों से अपील करते हैं कि यह हर नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह देशभक्त बने और एक दूसरे को भाई माने। जो कोई हिन्दुस्तान में रहता है वह एक दूसरे का भाई है और बहादुरशाह जफर हमारे शासक हैं।

विरजानन्द का यह भाषण १८५७ के दबे पक्ष को प्रकाशित करता है। इससे यह पता चलता है कि सनातन धर्म के दर्शन ने भारत में बहादुर शाह जफर को दैवीय समर्थन दिया था और किस तरह से सनातन धर्म और इस्लाम के बीच ऐतिहासिक गठजोड़ कायम किया था। अंग्रेजों और बंबई व कलकत्ता में बैठे उनके चंद बुद्धिजीवियों को यह अहसास नहीं था कि भारत पर मुगलों का शासन सनातन धर्म के समर्थन से चल रहा था। पहाड़ों में रहने वाले ऋषियों और मुनियों की औरंगजेब सहित सभी मुगल दरबारों में पहुँच थी। मुगल दरबार में यह मान्यता थी कि जब तक पहाड़ों में रहने वाले ऋषि–मुनि तपस्या करते रहेंगे भारत और मुगल वंश सुरक्षित है।

●

स्वाधीनता संग्राम में महर्षि दयानन्द का योगदान

–डॉ० सुरेन्द्र सिंह कादियाण

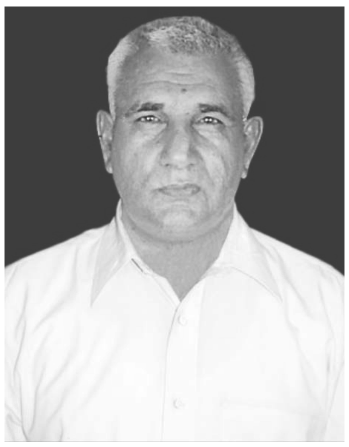

सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन की १५०वीं वर्ष गांठ पूरा देश पूरे उत्साह के साथ मना चुका है और अब स्वतंत्रता के ७५ वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर 'अमृत महोत्सव' पूरा देश मना रहा है। अतः यह स्वाभाविक है कि इस अवसर पर उन वीरों का स्मरण किया जाये जिन्होंने इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर किसी न किसी रूप में इसे प्रचण्डता और गौरव प्रदान किया था। आर्य समाज की स्थापना इस आन्दोलन के अठारह वर्ष पश्चात् सन् १८७५ में हुई थी अतः इस आन्दोलन में आर्य समाज के भाग लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द इस आन्दोलन के द्रष्टा अवश्य रहे थे। उन्होंने इस आन्दोलन में कोई भूमिका निभाई थी अथवा नहीं इस पर इतिहास चुप है। स्वयं महर्षि दयानन्द ने अपनी आत्म–कथा में सन् १८५५–६० के साढ़े पाँच वर्षों का स्पष्ट विवरण नहीं दिया है। १८५७ ई० में भड़की जनक्रान्ति से लगभग ढ़ाई वर्ष पूर्व एवं ढ़ाई वर्ष पश्चात तक का उनका यह अज्ञात जीवन–वृत्तांत पाठक के मन में जिज्ञासा व उत्सुकता पैदा करता है कि इस दौरान आखिर वे कहाँ रहे, क्या करते रहे? अतः कुछ लोगों ने उनकी इस अज्ञात–जीवनी को स्वाधीनता संग्राम की उनकी गतिविधियों से जोड़ कर देखा लेकिन इस दृष्टिकोण से विरोध रखने वालों की भी कमी नहीं रही है।

पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'हमारा राजस्थान' में सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द की इस अज्ञात जीवनी पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। यह पुस्तक सन् १९५० ई० में हिन्दी भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के पृष्ठ २५८ पर अति संक्षेप में उनका निष्कर्ष था कि– ''मार्च १८५७ तक वह प्रायः गंगा के साथ–साथ गंगोत्तरी और बद्रीनाथ से बनारस तक गढ़वाल, रूहेलखण्ड, दोआब और काशी के प्रदेश में घूमता रहा, जहाँ तब क्रान्ति की तैयारियाँ जनता में भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं। .... १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर में गया और आगे पाँच मास तक कानपुर, इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। मार्च १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर, चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिये दक्षिण की ओर निकल पड़ा। अपने प्रारम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहाँ आकर एकाएक अन्त हो जाता है। आगे तीन साल क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहाँ रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगत उसने कभी नहीं दी। ..... यह बात मान लेना आसान नहीं है कि दयानन्द के सदृश भावना प्रवण और चेतनावान् हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा रहा हो और उस युद्ध की सफलता–विफलता की इस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो। अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह चुप्पी भी कम अर्थ भरी प्रतीत नहीं होती।'' जाहिर है कि पृथ्वी सिंह महता की ये टिप्पणियाँ किसी ठोस ऐतिहासिक दस्तावेज़ पर आधारित न होकर हेत्वाभास पर आधारित हैं अर्थात् १८५७ की हलचल पर ऋषिवर का चुप्पी साधना–इसे आधार बनाकर उन्होंने ऐसी कल्पना कर ली कि उन्होंने क्रान्ति में अवश्य भाग लिया था लेकिन शासक वर्ग से बचने के लिए चुप रहे और उसका उल्लेख करना उचित नहीं समझा। अंग्रेजों द्वारा चलाये जा रहे दमन चक्र को देखते हुए ऐसी कल्पना को निराधार भी नहीं माना जा सकता।

इस विषय पर प्रसिद्ध इतिहासकार पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने का प्रयास किया। यह पुस्तक २०२३ वि० में हिन्दी भवन, जालंधर ने प्रकाशित की थी। पं० जयचन्द्र ने इस प्रश्न को उठाया है कि हरिद्वार में सन् १८५५ में स्वामी पूर्णानन्द से मिलकर और उनसे परामर्श लेकर वे तुरन्त विरजानन्द जी के पास मथुरा जाने के बजाय कानपुर क्यों चले गये और विरजानन्द जी के पास १८६० में क्यों पहुँचे? यदि उनकी जिज्ञासा शिक्षा ग्रहण की ही होती तो वे तुरन्त हरिद्वार से मथुरा पहुँचते। अतः उनका मानना है कि वे स्वामी पूर्णानन्द जी के पास क्रान्ति सम्बंधी विचार–विमर्श के लिये गये थे न कि विद्याध्ययन के लिए। लगभग तीन वर्ष तक नर्मदा के आरण्यक प्रदेश में परिभ्रमण की जो बात कही जाती है उसका कोई आधार नहीं है। पं० जयचन्द्र जी के ये निष्कर्ष भी कल्पना–प्रसूत हैं, उनका भी कोई ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं है। लेकिन इस कल्पना को भी पहली नज़र में खारिज नहीं किया जा सकता।

उक्त दोनों महानुभावों की इस बात में तो दम अवश्य रहा है कि स्वाधीनता आन्दोलन की इतनी बड़ी घटना पर अपनी आत्मकथा में स्वामी दयानन्द का किंचित भी टिप्पणी न करना किसी विशेष व खतरनाक रहस्य का संकेत देता है। जबकि उनके सभी ग्रन्थों में देशभक्ति का ज्वार दिखाई देता है। निश्चय ही कोई ऐसी बात रही होगी जो विदेशी शासकों के प्रकोप की वजह से उल्लेख योग्य नहीं समझी गई इसलिए उन्होंने जन–क्रान्ति का जिक्र तक करना मुनासिब नहीं समझा। यह ज्ञातव्य है कि स्वाधीनता आन्दोलन में संन्यासियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी विचारों को देखते हुए यह अनुमान लगाना गलत होगा कि उनकी इस आन्दोलन में कोई भूमिका नहीं रही होगी। लेकिन इतिहास कल्पना पर नहीं तथ्यों व प्रमाणों के बल पर आगे बढ़ता है और इनका पं. जयचन्द्र विद्यालंकार के पास भी अभाव था। उन्होंने बनारस के उदासी मठ के सत्यस्वरूप शास्त्री के कथन को उद्धृत अवश्य किया कि ''साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया था'' परन्तु इस जनश्रुति का भी कोई पुख्ता आधार नहीं था अपितु अन्य प्रमाण मिल जाने पर सहायक टिप्पणी के रूप में इसका महत्व भी अवश्य बढ़ सकता है।

इस विषय को लेकर भारी बवाल तब मचा जब आर्य समाज कलकत्ता के उपदेशक पं० दीनबंधु वेदशास्त्री की 'महर्षि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' शीर्षक लेखमाला ६६ किस्तों में ५ जनवरी १९६९ से ८ नवम्बर १९७० तब सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि के मुखपत्र 'सार्वदेशिक में प्रकाशित हुई। कालान्तर में इसे 'योगी का आत्मचरित्र' शीर्षक देकर स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। इसे पातञ्जल योग साधना संघ, रोहतक ने प्रकाशित किया। पं०. दीनबंधु वेदशास्त्री का दावा था कि उन्होंने कलकत्ता के अनेक भद्रपुरुषों के घरों से अज्ञात जीवनी विषयक सामग्री बंगला भाषा में लिखी गई पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त की जिनका अनुवाद व सम्पादन ही उन्होंने किया था। डॉ० भवानीलाल भारतीय, स्वामी पूर्णानन्द, प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु, युधिष्ठिर मीमांसक, प्रो० श्रीराम शर्मा, डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश तथा डॉ० जार्डन्स ने इस अज्ञात जीवनी को पूर्णतया भ्रान्त, इतिहास विरुद्ध तथा जाली ठहराया। इसके विपरीत आदित्यपाल सिंह आर्य (अब आदित्यमुनि), क्षितीश वेदालंकार, डॉ० वेदव्रत, मा० निहालसिंह आर्य, ओंकार मिश्र 'प्रणव', स्वामी सोमानन्द, सोहनलाल शारदा, स्वामी ओमानन्द सरस्वती, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, डी०लिट्० आदि इस बात को मानते हैं कि यह ग्रन्थ जाली नहीं है। श्री पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती सरीखे विद्वान् इस विषय को लेकर निरपेक्ष बने रहे और दोनों पक्षों की बात 'आर्य मर्यादा' में रखते रहे। दोनों पक्षों के अपने–अपने तर्क और युक्तियाँ थीं, उस पर गहन चिन्तन तथा अनुसंधान भी साथ–साथ चल रहा था इसलिए अधिकतर लोग तटस्थ भाव से इस सारस्वत युद्ध को देखते रहे।

समर्थकों का मानना था कि इस ग्रन्थ में तिथियों को लेकर जो गलती हुईं हैं उसे पुरानी पाण्डुलिपियों से उद्धृत करने में लेखकों व अनुवादक की भूल या प्रमाद कहा जा सकता है। दूसरे, उनका कथन है कि आलोचक–गण न तो योग में पारंगत हैं, न उन्होंने पूरा भारत, नेपाल, तिब्बत आदि घूमा है अतः भौगोलिक स्थानों के नाम आदि को लेकर और योग–साधना व सिद्धियों को लेकर जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं वे अधिक महत्व नहीं रखतीं और न ही इस ग्रन्थ को जाली करार देने का ठोस आधार बनती हैं। अज्ञात काल पर उठाए गये डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनेक तर्कों को आदित्यमुनि जी ने बड़े ही सूक्ष्म विश्लेषण व तर्क आदि से काटा भी है। उदाहरणतः प्रसिद्ध क्रान्तिकारी तात्या टोपे को फांसी लगी थी– इस पर भारतीय जी का जोर रहा जबकि 'योगी' का आत्म चरित्र' में उसे जीवित दिखाया गया था। आधुनिक खोज भी यही मानती है कि तात्या टोपे को अंग्रेज फांसी पर न चढ़ा सके थे बल्कि उसकी जगह उनका डुप्लीकेटर कोई नारायण राव भागवत फांसी पर चढ़ा था जिससे कि तात्या टोपे पर से अंग्रेजों का ध्यान हट सके। लेकिन भागवत को फांसी देने के बाद भी अंग्रेज तात्या टोपे की खोज करते रहे थे। योगी का आत्म चरित्र' में उल्लिखित ऋषिवर की हिमालय–यात्रा को लेकर भी जो आपत्तियाँ उठी थीं उनका निराकरण पं० क्षितीश वेदालंकार ने पद्मश्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती से कराया था जो मानसरोवर पर २५ साल रहे थे और जिनकी अंग्रेजी पुस्तक 'कैलास मानसरोवर' कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक की भूमिका पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। डॉ० भवानीलाल भारतीय महर्षि दयानन्द रचित आत्मकथा को

शेष पृष्ठ 5 पर

अक्षरशः सही मानते हैं जबकि आदित्यमुनि उसे अलंकारिक मानते रहे हैं। डॉ० गंगाराम गर्ग द्वारा सम्पादित पुस्तक World Perspectives on Swami Dayananda Saraswati में प्रो० मैक्समूलर का जो कथन उनके ग्रन्थ Indian Friends (आक्सफोर्ड १८६६, भारतीय संस्करण १६८२ पृ. ६३–६७) में प्रकाशित हुआ है उसमें प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं–

The life of Dayanand published under the authority of the so-called Theosophists, which I accepted formerly as genuine, has been discredited, and we shall probably never have real biography of the man, for biography in India seems to share the fate of history, either it tells us nothing or what it tells us is fact and fiction so mixed together that it is impossible to seperate the one from the other अर्थात् तथाकथित थ्योसोफिस्टों के प्राधिकार से प्रकाशित दयानन्द की जीवनी जिसे मैंने पहले यथार्थ समझ लिया था, अविश्वसनीय है और सम्भवतः हमें उस व्यक्ति की वास्तविक जीवनी कभी प्राप्त नहीं हो सकेगी क्योंकि भारत में उसकी जीवनी इतिहास की नियति की भागीदार प्रतीत होती है। जिससे या तो वह हमें कुछ भी नहीं बताती अथवा जो कुछ वह हमें बताती है, वह वास्तविकता और कल्पना का ऐसा मिश्रण है जिसमें से एक को दूसरे से अलग करना असम्भव है।''

इस 'आत्म–कथा' पर 'थ्योसोफिस्ट' के जिस अंक में यह कह कर विराम लगा दिया गया था कि Here the autobiography ends- Editor, Theosophist उस पर भी आदित्यमुनि जी की टिप्पणी है कि यह घोषणा स्वामी दयानन्द की नहीं थियोसोफिस्ट, पत्रिका के सम्पादक की थी। डॉ० भारतीय जी का मत है कि थ्योसोफिस्टों से मतभेद न हो गए होते तो आगे यह आत्मकथा और छपती। इस पर आदित्यमुनि जी की टिप्पणी है कि आत्म–कथा बन्द होने के उपरांत भी २२ मार्च १८८२ तक स्वामी जी का परस्पर पत्र–व्यवहार कर्नल अल्काट व मैडम ब्लैवस्तिकी के साथ होता रहा था। स्वामी जी का थ्योसोफिस्टों से सम्बंध विच्छेद २८ मार्च १८८२ को अंतिम रूप से हुआ था और यह आत्मकथा अक्तूबर व दिसम्बर १८७६ व नवम्बर १८८० में थ्योसोफिस्ट में छप कर बन्द हो चुकी थी। अतः इस सम्बंध विच्छेद की पहले ही कल्पना करके थ्योसोफिस्टों ने पहले ही 'आत्मकथा' को समाप्त कैसे घोषित कर दिया? अर्थात् स्वामी दयानन्द 'आत्मकथा' के माध्यम से जो लिखना चाहते थे वह लिख चुके थे इसमें कुछ और लिखना उनको अभीष्ट नहीं था। थ्योसोफिस्टों के आग्रह पर ही स्वामी दयानन्द को आत्म–कथा लिखनी पड़ी थी। सम्भवतः थ्योसोफिस्ट चाहते थे स्वाधीनता आन्दोलन में उनकी कोई भूमिका रही हो तो वह सामने आ जाये लेकिन स्वामी दयानन्द इतने भोले नहीं थे कि अपने लिये मुसीबत खड़े करते क्योंकि उन्होंने इस क्रान्ति को आगे बढ़ाना था न कि अपने को शहीद बना कर उसे खत्म करना था। ऋषिवर की इस कुशलता के दर्शन 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम व अब बाजार में अनुपलब्ध संस्करण में भी होते हैं जिसमें उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति अपना विरोध जंगली लकड़ी, नमक कर व स्टाम्प पेपर आदि के बारे में बड़े ही संयत व विनम्र भाव से प्रकट किया है। ऐसे ही अन्य प्रसंगों में जो उग्रता बाद के संस्करण में दिखाई देती है वह प्रथम संस्करण में कतई नहीं है। बाद का संस्करण अभी पूरा नहीं छपा था लेकिन इस संस्करण का अधूरा भाग जैसे ही प्रेस में छपा स्वामी दयानन्द की हत्या करा दी गई। जाहिर है कि अंग्रेजों के जासूस पहले ही उनको संदिग्ध मान कर उनके पीछे लगे हुए थे। स्वामी जी के वेद भाष्य में जो राष्ट्रीय भावना उद्वेलित हो रही थी, अपने अंतिम समय में गोरक्षा आन्दोलन उन्होंने चलाया था, अपने प्रवचनों में स्वाधीनता को लेकर जो बातें वे करते थे, रजवाड़ों से उनका जो सम्पर्क बढ़ रहा था उसे लेकर ब्रिटिश शासन पहले से ही आशंकित था। सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संशोधित संस्करण में तो उन्होंने न केवल स्वाधीनता का स्पष्ट सिंहनाद ही किया बल्कि 'जन–क्रान्ति' की कुछ घटनाओं का सजीव चित्रण भी किया। उन दिनों ऐसी किसी बात को सहन करने को ब्रिटिश सत्ता कतई तैयार नहीं थी विशेषकर यदि वह ऋषि दयानन्द जैसे महान् विचारक व सुधारक की कलम से निकले। जन–क्रान्ति के विफल होने पर ब्रिटिश–सत्ता का दमन–चक्र जिस तेजी से भारत भर में घूमा वह सर्वविदित है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से सत्ता ब्रिटिश ताज के आधीन चली गई थी और वे फूक–फूक कर कदम उठा रहे थे। ऐसे में वे महर्षि दयानन्द की योजना को कैसे सहन कर सकते थे? उनके वेदभाष्य को भी यदि सरकार ने मान्यता नहीं दी थी तो इसके पीछे का मुख्य कारण भी यही था कि धर्म की आड़ में स्वाधीनता की बिछाई बिसात को लेकर अंग्रेज पहले ही उन पर सन्देह कर रहा था। अतः स्वामी दयानन्द की हत्या अंग्रेजों का ही रचा एक राजनीतिक हत्याकाण्ड था न कि वेश्या नन्हीं भगतिन, मुसलमानों या पौराणिकों का कोई षड्यन्त्र जैसा कि प्रायः दिखाया जाता रहा है। वस्तुतः यह गहन शोध का विषय है अतः डॉ० भारतीय जी की पुस्तक 'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' को इस शृंखला में अंतिम मान लेना निश्चय ही एक भूल व भ्रान्ति होगी।

हाँ इतना अवश्य है कि हमें इस विषय में गहन खोज व अध्ययन करना होगा। इस प्रकरण पर डॉ० भारतीय और आदित्यमुनि के बीच काफी नोक झोंक होती रही है। दोनों ही पक्षों ने एक दूसरे के तर्कों और निष्कर्षों को अपनी–अपनी युक्ति से काटा है। लेकिन इस विवाद या शास्त्रार्थ पर अभी विराम नहीं लगा है और अनेक नयी–नयी प्रस्थापनाओं ने जन्म लिया है। स्वाधीनता आन्दोलन को लेकर भी नई–नई खोज व तथ्य अभी तक सामने आ रहे हैं फिलहाल इसे भी पूरे इतिहास की संज्ञा अभी तक नहीं मिल पाई है। अतः डॉ भवानीलाल भारतीय के इस निष्कर्ष में कोई दम नहीं है कि ''स्वामी दयानन्द अपने इस अज्ञात काल में विशुद्ध आध्यात्मिक जिज्ञासु बन कर ऐसे योगियों की तलाश में इधर–उधर भ्रमण कर रहे थे जो उन्हें योग साधना, प्रभुभक्ति तथा मोक्ष मार्ग के बारे में सही जानकारी दे सकें। धर्म और अध्यात्म से भिन्न लौकिक प्रश्नों के समाधान में न तो उनकी कोई अभिरुचि ही जागृत हुई थी और न वे देश में होने वाले राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के आन्दोलनों से ही अपना कोई सम्पर्क रखते थे।'' यदि तथ्य यही होता तो उसका उल्लेख करने में ऋषिवर को क्या आपत्ति थी, क्योंकि ऐसे विवरण तो उन्होंने पहले भी दिये थे?

डॉ० भारतीय जी ने मा. निहालसिंह द्वारा प्रस्तुत सोरम सामग्री को अप्रामणिक माना है। इस प्रसंग में मेरा यही मानना है कि इस सामग्री के तथ्य भले ही सही हों लेकिन उसमें मालिकता नहीं है। सोरम की सर्वखाप पंचायत के मन्त्री स्व० चौ० कबूल सिंह जी मेरे पास भी आकर ठहरते थे। इस प्रसंग में मेरे उनसे दो प्रश्न थे। पहला यह कि यह सामग्री तब सामने क्यों नहीं लाई गई जब सिद्धान्ती जी 'सम्राट्' साप्ताहिक निकालते थे और पंचायत रिकार्ड से आपके कई लेख उसमें प्रकाशित हुए थे? सम्राट् लगभग १६४८–१६५७ तक प्रकाशित होता रहा था। 'योगी का आत्मचरित्र' छपने के उपरांत ही सर्वखाप के रिकार्ड से यह सामग्री जिस प्रकार सामने लाई गई है उस पर मुझे सन्देह रहा है जिसका निराकरण सर्वखाप पंचायत के पुराने कागजात का रासायनिक (कार्बनिक) परीक्षण करा कर ही हो सकता है। यह मेरा दूसरा प्रश्न था। माननीय चौ० कबूल सिंह जी मेरे पहले प्रश्न का उत्तर न दे सके और न परीक्षण कराने को तैयार हुए। यही स्थिति मा० निहाल सिंह जी आर्य की रही जो मेरे भी निकट सम्पर्क में थे। मेरा मानना है कि 'योगी का आत्मचरित्र' छप जाने के पश्चात् वाहवाही लूटने के लिए श्री कबूल सिंह जी ने ये प्रसंग अपने पंचायती रिकार्ड में दर्ज कर लिये थे जिसकी सही जानकारी वे श्री निहालसिंह आर्य को भी न दे सके। ऐसा वे कर लेते थे, ऐसा मुझे सन्देह रहा है। यही कारण है कि भले ही इस पंचायती रिकार्ड पर कुछ लोगों ने पी.एच–डी. कर ली हो लेकिन जाट इतिहास पर कलम उठाने वाले ऐसे शोधकर्त्ता भी रहे हैं जिन्होंने इस रिकार्ड को जाली मानते हुए इसका स्पर्श तक नहीं किया। मा० निहालसिंह आर्य अपनी छुट्टियों का सदुपयोग इस पंचायती रिकार्ड को खंगालने में किया करते थे क्योंकि इस रिकार्ड पर उनका अन्धविश्वास था जबकि इस रिकार्ड को मैं हमेशा सन्देह की दृष्टि से देखता रहा हूँ। इस रिकार्ड में अनेक स्थानीय जातियों का रिकार्ड है। इसी प्रसंग में जब मैंने इस रिकार्ड से कुछ सामग्री संचित की और उसका इतिहास व किवदंतियों से मिलान किया तो इस पंचायती रिकार्ड पर मेरा जो थोड़ा–बहुत विश्वास मां० निहालसिंह आर्य की वजह से बना था वह टूट गया था। अतः यदि हम सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड से महर्षि दयानन्द के स्वाधीनता संग्राम में ली गई भागीदारी की पुष्टि करेंगे तो अपना मज़ाक ही उड़वायेंगे। श्री आदित्यमुनि जी ने अपना यह मज़ाक उड़वाया भी है क्योंकि वे भी मा. निहालसिंह आर्य के सम्पर्क में आये थे। लेकिन इससे आदित्यमुनि जी के वे निष्कर्ष गलत नहीं ठहराये जा सकते जो उन्होंने 'योगी का आत्मचरित्र' के प्रसंग में निकाले हैं। निश्चय ही उनका परिश्रम व अनुसंधान जो उन्होंने इस विषय पर किया है वह प्रशंसनीय है।

शोधकर्त्ताओं से मेरा इतना ही निवेदन इस प्रसंग में रहेगा कि महर्षि दयानन्द की १८५७ की जन–क्रान्ति में भागीदारी निरी कल्पना या गपौड़ा नहीं है कि उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाये। ऋषिवर दयानन्द के समग्र साहित्य में यत्र–तत्र फैले स्वाधीनता, राष्ट्रभक्ति, पुरातन इतिहास के प्रति स्थिर अनुराग, देश की दयनीय स्थिति के प्रति करुणा व आक्रोश के भाव–विचार इतने प्रबल हैं कि उनको मात्र धार्मिक या आध्यात्मिक व्यक्ति मानना गलत होगा। उनकी हत्या जिन परिस्थितियों व कारणों से हुई और अपनी आत्मकथा जिस अलंकारिक शैली में उन्होंने लिखी उससे भी इस विश्वास को बल मिलता है कि सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन से वे अपने को अलग नहीं रख सके थे। डॉ० भवानीलाल भारतीय इस बात का सटीक उत्तर आज तक नहीं दे सके हैं कि पं. हेमचन्द्र चक्रवर्ती की डायरी को प्रमाण मान कर उन्होंने कलकत्ता का उल्लेख करते हुए जो यह लिखा है कि स्वामी दयानन्द २२ से ३१ मार्च १८७३ तक बाराह नगर (कलकत्ता) में किसी ग्रन्थ–लेखन में व्यस्त रहे, वह ग्रन्थ–लेखन आखिर क्या था जो आज तक सामने नहीं आ पाया? चक्रवर्ती महाशय ने केवल इतना लिखा है– १८–२१ मार्च १८७३ स्वामी जी को साथ लेकर बाराह नगर लौटा। २१–३१ मार्च, १८७३ स्वामी जी ने एकान्त में (निस्संग भावे) ग्रन्थ प्रणयन करने में अपने को लगाया (आत्मनियोग) संध्या समय उनका उपदेश हुआ। डायरी के अनुसार १ अप्रैल १८७३ ई० को दयानन्द बाराह नगर को छोड़कर भूदेव मुखोयाध्याय के साथ हुगली में उपस्थित हुए। ऋषि दयानन्द के सभी ग्रन्थों के इतिहास का विवेचन पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने किया था लेकिन 'योगी का आत्मचरित्र' के इतिहास का विवेचन उन्होंने नहीं किया। ऐसी स्थिति में इस बात को मान लेना कोरी कल्पना नहीं हो सकती कि कलकत्ता प्रवास में स्वामी दयानन्द ने 'योगी का आत्मचरित्र' नामक पुस्तक की ही पाण्डुलिपि तैयार की होगी जो यत्र–तत्र उनके प्रिय भक्तों के पास पड़ी रही। यत्र–तत्र पड़ी रहने का कारण यह रहा होगा कि उसके एक स्थान पर रहने से इस बात का भण्डाफोड़ होने का भय अधिक बना रहता जो ऋषिवर को स्वीकार्य नहीं था क्योंकि वे स्वाधीनता आन्दोलन की एक नई योजना लेकर बढ़ना चाहते थे जो आगे चलकर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में निरन्तर प्रस्फुटित भी होती रही। कलकत्ता–प्रवास के पश्चात ही वे खुल कर समाज में उतरे थे। माननीय प्रो० उमाकान्त जी उपाध्याय का भी यही अभिमत रहा है कि इन दस दिनों में २२–३१ मार्च को क्या प्रणयन ऋषि ने किया, इसका एक सम्भावित उत्तर योगी का आत्मचरित्र ही हो सकता है। यदि यह ग्रन्थ प्रणयन किसी सामान्य विषय पर होता तो महर्षि दयानन्द अथवा चक्रवर्ती महाशय को विषय का उल्लेख करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी। वस्तुतः यह किसी महत्वपूर्ण विषय पर लिखा गया विशेष विवरण था जिसे गुप्त रखा गया। यह डायरी भी १६५४ में जाकर प्रकाश में आई। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकरण पर एक शोधकर्त्ता की दृष्टि से विवेचन और लेखन कार्य आगे बढ़ाया जाये।

●

स्वामी दयानन्द और 1857 की क्रान्ति चेष्टा

—पृथिवी सिंह मेहता विद्यालंकार

मैंने अपनी कुछ समय पूर्व प्रकाशित पुस्तक ''हमारा राजस्थान'' में स्वामी दयानन्द के जीवन और कार्यों पर समसामयिक घटनाओं और इतिहास की दृष्टि से प्रकाश डालने का जतन किया था। मेरा लक्ष्य उस पुस्तक में मुख्यतः राजस्थान इतिहास की संक्षिप्त समीक्षा करना था। दयानन्द का राजस्थान के आधुनिक इतिहास से गहरा सम्बन्ध है और भारत के आधुनिक नवजागरण में भी उनका महत्वपूर्ण भाग रहा है, इस दृष्टि से उनके जीवन और कार्यों का मूल्यांकन करना भी उस पुस्तक में आवश्यक था।

भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण, विशेषतः, पूर्ण स्वाधीनतावादी क्रान्तिकारी आन्दोलन से दयानन्द का सम्बन्ध उनके दो प्रमुख शिष्यों श्यामजी कृष्ण वर्मा और कृष्णासिंह बारहट के द्वारा सीधा जुड़ जाता है। और दूसरी तरफ १८५७ का भारतीय स्वाधीनता का विफल युद्ध दयानन्द के जीवन काल के अन्तर्गत उनकी यौवनावस्था में हुआ था, उनके अपने सार्वजनिक जीवन का आरम्भ उसके ठीक बाद से होता है। उनके ग्रन्थों, भाषणों आदि के अवलोकन से यह बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि उनके हृदय में देश की पराधीनता और अलान व्यवस्था के प्रति गहरी वेदना भरी थी और वे देश के धर्म और समाज का सुधार इसलिए चाहते थे कि राष्ट्र बलवान हो, स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बने और अपने पांव पर आप खड़ा हो सके। ऐसी दशा में उनके जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले हर किसी व्यक्ति के मन में स्वभावतः ही यह प्रश्न उठेगा कि १८५७ की घटनाओं के समय वे कहां थे और क्या कर रहे थे? उन घटनाओं के प्रति रुख क्या था और उनके विचारों और कार्यों पर उनका क्या प्रभाव पड़ा था?

मैं अपनी इतिहास–समीक्षा में जब उक्त स्थल पर पहुँचा तो मैंने प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री जयचन्द विद्यालंकार से इस विषय में सलाह मांगी। उन्होंने भी, जैसाकि उन्होंने मेरे उक्त ग्रन्थ की अपनी प्रस्तावना में लिखा है, लगभग वही प्रश्न मेरे सामने कुछ और स्पष्ट भाषा में रक्खे और दयानन्द के जीवन को उनके प्रकाश में एक बार बारीकी से टटोले जाने की सलाह दी। अपने इस अध्ययन का फल मैंने हमारे राजथान में दर्ज किया है ताकि विद्वान् उस दिशा में और खोज करने में प्रवृत्त हों।

मेरे अध्ययन से जो तथ्य प्रकट हुए वे संक्षेप में थे १. दयानन्द १८५७ के स्वाधीनता युद्ध के समय ३३–३४ वर्ष के जवान थे जो ज्ञान की तलाश में घूम रहे थे। युद्ध के ठीक पूर्व से अर्थात् मई १८५६ से मार्च १८५७ तक वे ठीक उसी प्रदेश में कानपुर और बनारस के बीच विचर रहे थे, जहां उस क्रान्ति का स्वरूप सबसे उग्र रूप में प्रकट होने वाला था।

क्रान्ति की तैयारियां मार्च १८५७ तक पूरी होकर एक साथ उठने की तिथि भी निश्चित हो चुकी थी। क्रान्ति के मुख्य नेता नाना साहब पेशवा अपने मन्त्रदाता अजीमुल्ला को साथ लेकर तीर्थ यात्रा के बहाने उस तैयारी का निरीक्षण करने उसी मास निकले थे, तथा उनके सैंकड़ों दूत क्रान्ति का संदेश लेकर साधू फकीरों के वेष में तभी देश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए रवाना हुए थे। दयानन्द को भी हम ठीक तभी बनारम का गंगातट छोड़ नर्मदा कांठे की ओर मुड़ता पाते हैं।

२. दयानन्द अपनी स्वकथित जीवनी का अन्त यहां आकर सहसा कर देते हैं और आगे तीन वर्ष तक, जबकि क्रान्ति का वेग देश में चल रहा था, वे कहां रहे और क्या करते रहे इसका कोई पता या लिखा उन्होंने किसी को न दिया। उनके जीवन की अगली घटनाओं पर से परदा १८६० में उठता है जब कि वे हाथरस से एकाएक मुरसान होकर मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने जाते दिखाई पड़ते हैं।

३. दयानन्द की जीवनी में यह बात दर्ज है कि विरजानन्द के पास मथुरा जाकर पढ़ने की प्रेरणा उन्हें १८५५ के आरम्भ में विरजानन्द के गुरु स्वामी पूर्णानन्द द्वारा हरद्वार में ही मिल चुकी थी। उसके बाद वर्ष १८५५ समूचा गढ़वाल के पहाड़ों में बिता कर १८५६ में पौड़ी के रास्ते मैदान में उतर आना और फिर गंगा के सहारे बुलन्दशहर और गढ़मुक्तेश्वर तक आना तो स्वभाविक रूप में समझ आता है। पर गढ़मुक्तेश्वर के बाद मथुरा की तरफ न मुड़ उनका कानपुर चले जाना और ५ महीने कानपुर इलाहाबाद के बीच चक्कर काटने के बाद बनारस तक जा एकाएक नर्मदा की तरफ मुड़ जाना तथा अगले तीन वर्ष की चर्य्या का कोई ब्यौरा किसी को न देना और गुरु विरजानन्द के पास जाने के अपने संकल्प को चार वर्ष तक मन में दबाये रख्ना साधारण दृष्टि से प्रायः अव्याख्येय है, जब तक कि उस क्रान्ति की घटनाओं से कोई सम्बन्ध न हो।

४. दयानन्द की जीवनी में यह बात भी दर्ज है कि १८८० में उन्होंने मेरठ में अपने कुछ भक्तों से बातचीत के दौरान में कहा कि वे गंगास्रोत से गंगासागर और रामेश्वरम् तक सारा भारत पैदल घूमे थे। किन्तु उनके जीवन का जो वृत्तान्त उपलब्ध होता है उसमें तो वे सतारा के दक्खिन कभी गये हों इसका कोई विवरण नहीं कि यह यात्रा उन्होंने यदि कभी की हो तो वह इन तीन–चार वर्षों के भीतर ही की गई होगी। किन्तु उसका वृत्तान्त उन्होंने किसी को भी बताना उचित क्यों नहीं समझा, इसकी व्याख्या करनी होगी।

दयानन्द के शिष्यों और साथियों में उनके अत्यन्त विश्वस्त और निकट के दो श्यामजी कृष्ण वर्मा और कृष्णसिंह बारहट मुख्य थे और दोनों ही भारत में पहले क्रान्तिकारियों में थे। श्यामजी को यूरोप जाकर पढ़ने और वहां के वातावरण का प्रथम श्रेणी का ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा और व्यवस्था स्वयं दयानन्द ने ही की थी। और कृष्णासिंह बारहट उनके राजस्थान के राजाओं को जगाने और प्रेरणा भरने के कार्य में मुख्य सहायक थे। उन्होंने और उनके पुत्रों केसरीसिंह और जोरावरसिंह तथा पौत्र प्रतापसिंह आदि ने भारत की स्वाधीनता के लिए किये गए क्रान्तिकारी प्रयत्नों में आगे किस रूप में योग और बलिदान दिये सो द्रष्टव्य है।

मैंने अपने ग्रन्थ ''हमारा राजस्थान'' में इन सभी तथ्यों को इक्ट्ठा कर पाठकों के सामने रख दिया था कि इससे सहज बुद्धि से जो भी परिणाम निकलता है उसे वे स्वयं निकालें। विद्वानों और जनता को इससे सोचने और अध्ययन करने की एक नई दिशा मिली है और प्रायः सभी दिशाओं में उसका स्वागत किया गया है। किन्तु कुछ क्षेत्रों में, जो उसे अभी तक सदा दूसरी दिशा में सोचते रहे हैं, इससे कुछ और बेचेनी भी फैली प्रतीत होती है और वहां इसको लेकर एक बड़ा विवाद उठा खड़ा हुआ है।

दिल्ली की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मुखपत्र मासिक ''सार्वदेशिक'' के सम्पादक पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति ने ८ मार्च १९५१ के साप्ताहिक 'आर्यमित्र की कतरन मेरे पास देखने को भिजवाई है। उसमें प्रयाग के वयो वृद्ध आर्य समाजी विद्वान् गंगा प्रसाद जी उपाध्याय का लेख मेरी स्थापनाओं के विरोध में छपा है। उन से पूर्व महेश प्रसाद जी का भी कोई लेख इस विषय पर उसी पत्र में छप चुका है यह उपाध्याय जी के उक्त लेख से ही मुझे विदित हुआ। उपाध्याय जी ने अजमेर के श्री हरविलास सारडा से भी इस विषय में पत्र व्यवहार किया जो मार्च के सार्वदेशिक में प्रकाशित हुआ है। विद्वान् सम्पादक ने उसकी भी प्रति मेरे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की है।

महेशप्रसाद जी का लेख तो इनमें मेरे देखने में आया नहीं। हरविलास जी से उपाध्याय जी ने जिस रूप में प्रश्न किया उसमें मेरी समूची उक्ति परम्परा और विचारधारा को जाने बिना उनका वैसा उत्तर देना स्वाभाविक था। सारी उम्र अंग्रेजों की खैर ख्वाही करने वाले सज्जन नाना साहब पेशवा और तांत्या टोपे साधारण चोर–डाकुओं और हत्यारों से अधिक कभी कुछ समझ सकेंगे इसकी सम्भावना कम है। दयानन्द जैसे व्यक्ति के, जिस को कि वे अपना धर्म गुरु मानते आये हैं, उनसे या उनके आन्दोलन से किसी तरह का सम्बन्ध होने की कल्पना भी उन्हें कैसे सह्य हो सकती थी? जिस भाषा में हरविलास जी का वह उत्तर है उसमें विवाद करने की मेरी आदत नहीं है।

उपाध्याय जी ने भी अपने लेख में मेरी बातों की खिल्ली उड़ाने और छींटाकशी करने की चेष्टा की है। उस पर कुछ भी कहे बिना मैं यहां केवल उनके तर्कों का उत्तर देता हूँ।

(१) उपाध्याय जी की आपत्ति है कि अनुमान और कल्पना को भी इतिहास में स्थान दिया है। मेरा निवेदन है कि कल्पना को हमने कोई स्थान नहीं दिया, पर अनुमान प्रमाण का सहारा लेना इतिहास में भी उतना ही आवश्यक होता है जितना किसी अन्य विज्ञान के अनुसन्धान कार्य में। जिन आधारों पर दयानन्द का सम्बन्ध १८५७ की क्रान्ति से होना अनुमानित होता है वे मैंने संक्षेप में ऊपर दिये हैं, उसकी दूसरी व्याख्या क्या हो सकती है?

(२). उपाध्याय जी का उपदेश है ''दयानन्द का मान और कीर्ति बढ़ाने को यदि कोई भक्त अपनी कल्पना शक्ति को इतिहास के नाम से सम्बद्ध करता है तो वह संसार का अहित ही करता है।'' किन्तु श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार की गिनती भक्तों में कभी नहीं हुई और न मैं ही कोई भक्त हूँ।

(३). उपाध्याय जी लिखते हैं कि दयानन्द के ग्रन्थों को वे पढ़ते रहे हैं। उनकी विचारधारा तथा उनके मंतव्यों तथा कार्य प्रणाली का उन्हें जो आभास उनसे मिला है उससे बात मेल नहीं खाती। उन्हें यह सब देख कर खेद होता है। ''दयानन्द का नाम नाना से जोड़ बड़ा अनर्थ है।''

यह बात आसानी से समझ आ सकती है कि जो हरविलास सारदा और उपाध्याय जी के मन में दयानन्द की जो कल्पना अब तक रही है, दयानन्द के क्रान्तिकारी स्वरूप से उसका मेल खाना कठिन है। किन्तु दयानन्द के हजारों लाखों अनुयायियों ने उन्हें सदा दूसरे ही रूप में देखा है। और यह भी न भूल जाना चाहिए कि श्यामजी कृष्ण वर्मा और कृष्ण सिंह बारहट आदि भी दयानन्द के ही शिष्य थे। श्यामजी के विचार में दयानन्द का क्या स्वरूप था यह बनारस के पं० राम नारायण जी मिश्र की उनसे १९२७ या २८ में स्विटजरलैण्ड में हुई मुलाकात के वृत्तान्त से स्पष्ट होता है जिसमें श्यामजी ने अपनी दयानन्द की जीवनी विषयक इक्ट्ठी की गई बहुत–सी सामग्री का अवलोकन कराते समय उनसे कहा था कि दयानन्द के असली रूप को लोगों ने अभी तक नहीं समझा, आर्यसमाज ने उन्हें केवल एक धर्म गुरु रूप में ही प्रस्तुत करने का जतन किया। श्यामजी स्वयं दयानन्द की जीवनी लिखने को उत्सुक थे यदि आर्यसमाज एक अच्छे सहायक को उनके पास भेज देता। किन्तु आर्यसमाज ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस बीच वह महारथी विदेश में चल बसा। उनकी सामग्री का क्या हुआ आर्यसमाज ने उसकी सुध अभी तक नहीं ली।

पं० रामनारायण जी इस विषय में अपने संस्मरण स्वयं भी शीघ्र प्रकट करने का विचार कर रहे हैं। अस्तु।

(४). दयानन्द के एक तीसरे चेले स्वामी श्रद्धानन्द थे। १८५७ की क्रान्ति चेष्टा के प्रति बन उनके विचार क्या थे सो उनकी स्वलिखित जीवनी ''कल्याण मार्ग का पथिक'' के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है।

''लाहौर जाने से पहले मेरे पिता.......सारे परिवार से अलग हो गये।..... बड़ी बहिन के विवाह की तैयारी थी और उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। लाहौर में वेतन इतना नहीं था कि परिवार का गुजारा करते हुए अपनी पुत्री के विवाह पर करतूत करने से न गिर जावें। इधर विवाह में नाक कटने का डर, उधर सम्वत् १९१४ विक्रमी (१८५७ ई०) का विप्लव जिसे गोरों ने गदर की उपाधि दे रक्खी थी। पिता जी ने एक टट्टू पर जीन डाल कर परमेश्वर का नाम ले दिल्ली का रास्ता पकड़ा। भाग्य की सहायता से हिसार नगर की शहरपनाह के अन्दर उस दिन प्रवेश किया जब बागियों ने गढ़ हिसार को घेर रक्खा था। एक सरदार भी दो सौ सवार लेकर उस सरकार की जड़ें भारतवर्ष में दृढ़ करने जा रहे थे जिसने कुछ वर्ष पूर्व पहले ही पंजाब को दास बना लिया था। सरदार साहब ने..... जो हमला किया तो बागियों के छक्के छूट गये और मेरे पिता जी ने एक चौधरी के घर ब्रह्म भोज का सामान बनता देख उसे इस बात पर राजी कर लिया कि.....बना बनाया पक्वान नये जंगी बेड़े को भेंट कर दे। सरदार साहब तो लूटमार रूपी इनाम लेने के लिये दिल्ली चल दिये और पिता जी हिसार के बागी कोतवाल का 'जाल किरच सम्भाल बागियों को फांसी दिलवाने के शुभ काम पर तैनात हुए। यहां रिश्वत की कमाई से न केवल पुत्री के विवाह के लिये पर्याप्त धन ही घर पर भेज दिया प्रत्युत घोड़े खरीद और अपने परिवार के २५ व्यक्तियों को रिसाले के छोटे अफसर बना और ७५ जाटों को घुड़सवारी के लिये साथ लेकर, मेरठ पहुँच गये। वहां रिसालदार नियत होकर पहला शुभ काम यह किया कि तीन महीनों में सहारनपुर के सारे जिले के हथियार ले लिये और उस जिले के गले में सदा के लिये गुलामी का तौक पहरा कर नैपाल की तराई में मेलाघाट की लड़ाई का जा छापा मारा। वहां भी पूजा पाठ न छूटा। नदी के पास ही कैम्प था। उस पार बागियों की बाढ़ दूसरे किनारे से फेंकी जाती थी।

परन्तु रिसालदार साहब के लिये एक

शेष पृष्ठ 6 पर

घड़ा पानी का गजरदम ही आ जाता था और वह नहा कर पूजा कर लेते।''

इस संदर्भ में उन्होंने स्वयं अपने पिता तक की १८५७ में की गई करतूतों पर कैसी चुटकियां ली हैं।

दयानन्द के ग्रन्थों से उपाध्याय जी को उन के कार्यों और विचार प्रणाली के विषय में जो भी आभास मिला हो दूसरा जो कोई उन्हें सरसरी दृष्टि से भी देखेगा इस बात से प्रभावित हुए बिना न रहेगा कि देश की पराधीनता की वेदना उनके हृदय में कितनी गहरी थी और उसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में मौके बे मौके कितने मार्मिक रूप में प्रकट किया है। भारतवासियों की अपनी खोई राजनीतिक महत्ता को पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा तो उनमें स्थान–स्थान पर कूट–कूट कर भरी है। ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रीय पूर्ण स्वाधीनता के सिद्धान्त के आदर्श का स्पष्ट प्रतिपादन भारतीय साहित्य में पहले पहल दयानन्द ने ही किया। बाद में बंगाल के श्री बंकिमचन्द चटर्जी और महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने भी उसी आदर्श की घोषणा दूसरे रूपों में की। उपाध्याय जी शायद कहना चाहते हैं कि यह सारी भावना दयानन्द में बिना किसी देश काल के अवलम्ब और वास्तविक जीवन की अनुभूति के केवल आदर्शवादी चिन्तन से इतने उग्र रूप में पैदा हो गई थी।

(५.) श्री उपाध्याय जी का कहना है कि दयानन्द ने ''किसी को इस प्रकार के (क्रान्तिकारी) कार्य के लिये शिक्षा नहीं दी थी।'' इसका उत्तर तो कृष्ण सिंह बारहट और श्यामजी कृष्ण वर्मा की जीवनियाँ स्वयं है। ध्यान रहे कि १८५७ की जयन्ति मनाने, प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के रूप में उनकी स्मृति और परम्परा को भारत में पुनः जगाने का जतन भी पहले–पहले उनके शिष्य श्याम जी और उनकी परम्परा के विनायक दामोदर सावरकर तथा हरदयाल आदि ने ही किया था।

(६.) मार्च १८५७ में दयानन्द के गंगातट छोड़ नर्मदा स्रोत की ओर जाने की व्याख्या में उपाध्याय जी का कहना है कि स्वामी दयानन्द जो चाहते थे उसके लिए क्रान्ति का वातावरण सर्वथा अनुपयुक्त था। क्या यह सम्भव नहीं है कि इसी लिए वह (दयानन्द) नर्मदा कांठे की ओर चले गये हों या सम्भव नहीं है कि उनका क्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं हो।'' अर्थात् दयानन्द संघर्ष से घबराते थे इसी से बचने के लिये नर्मदा की तरफ भाग गये थे। मेरे अनुमान पर आपत्ति करते उपाध्याय जी यहां स्वयं किस तरह के अनुमानों पर उतर आये हैं।

किन्तु नर्मदा का वह कांठा जहां क्रान्ति के वातावरण से बचा कर उपाध्याय जी दयानन्द को ले जाना चाहते हैं, उस समय भारत का सबसे अधिक राजनीतिक चेतना सम्पन्न प्रदेश था। उस युग के अंग्रेज राजनेताओं को भी अपनी हर चाल के निर्धारण से पूर्व सदा यह सोचना पड़ता था कि उस प्रदेश के निवासियों पर उसकी प्रतिक्रिया क्या होगी, यह बात स्व० वामनदास बसु की पुस्तक 'भारत में ईसाई शक्ति का उदय' (राइज़ आफ क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया) में दिये गये समकालिक अंग्रेज लेखकों के उद्धहरणों से स्पष्ट विदित होती है। १८५७ ई० के क्रान्तिकारियों की भी नज़र आरम्भ से अन्त तक सदा सबसे अधिक उसी प्रदेश पर थी, क्योंकि वह उत्तरभारत, महाराष्ट्र और दक्खिन के बीच कड़ी रूप में था। १८५८–५६ में युद्ध की विफलता निश्चित हो जाने पर भी तांत्याटोपे का लक्ष्य एक बार उस इलाके में पहुँच जाना ही था और अंग्रेज उसे वहां न पहुँचने देने को चिन्तित थे, यह बात ''हमारा राजस्थान'' में तांत्याटोपे के संघर्षों का जो वृत्तान्त दिया गया है उसी से स्पष्ट हो जाएगी।

(७.) फिर सबसे बड़ा महत्व का प्रश्न तो यह है कि दयानन्द मार्च १८५७ के बाद १८६० तक की अपनी चर्य्या का कोई ब्यौरा क्यों नहीं देते? इस विषय में उनका यह मौन ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि अवश्य वे इस समय किसी ऐसे कार्य में संलग्न रहे थे जिस का ब्यौरा १६वीं सदी के उस उत्तरार्ध में देना उन्हें किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ा। उपाध्याय जी ने इस प्रश्न की व्याख्या कुछ भी नहीं की।

(८.) दयानन्द के १८५७ की क्रान्ति में भाग लेने की कुछ भी सम्भावना पर उपाध्याय जी की एक मुख्य आपत्ति है कि उनके मार्च १८५७ में गंगा कांठे से नर्मदा कांठे की ओर जाने की बात, यदि क्रान्ति का सन्देश लेकर देश के कोने–कोने के लिये साधु कुछ फकीरों के वेष में जाने वाले नाना के उन सैंकड़ों दूतों के सिलसिले में कही जायगी तो वे नाना के एजेंट साबित होंगे। उपाध्याय जी को यह बिलकुल सहन नहीं होता। वे कहते हैं ''क्या यह मान लेना आसान है कि दयानन्द जैसा साहसी भावना प्रवन और चेतनावान् युवक प्रवृत्ति और इच्छा होते हुए किसी आन्दोलन में केवल गौण भाग ही लेवे और केवल चुप्पि साध जाए....यदि उनको (१८५७ की क्रान्ति चेष्टा में भाग लेना) अभिमत होता तो वे कभी पीछे न हटते। किसी का सन्देश वाहक बनना उनको प्रिय न था।.....शायद सह्य भी न था।''

किन्तु १८५७ तक दयानन्द एक युवक विद्यार्थी मात्र थे, उनके व्यक्तित्व का पूर्ण स्वतन्त्र विकास तब तक न हुआ था और न वह आन्दोलन उनकी अपनी कृति या सृष्टि था। फिर अपने देश के राजा या नेता के अधीन देश की स्वाधीनता के लिये उनका एजेंट या कारिन्दा बन कर कार्य करने में भी कोई हेठी होती है? किसी विदेशी या स्वदेशी निरंकुश अत्याचारी शासक का प्रजा के विरुद्ध एजेण्टा बनना तो अवश्य अपमानजनक और घृणित है। किन्तु दयानन्द यदि ऐसे शुभ और महत्त्वपूर्ण कार्य में भी किसी के सन्देश वाहक बनकर कार्य नहीं कर सकते थे या वह स्थिति उन्हें सह्य न हो सकती थी तब तो यह उनके अत्यधिक अहम् भाव का ही सूचक होगा। दयानन्द के चरित पर ऐसा आरोप तो शायद उनका कोई दुश्मन भी न लगावेगा।

(६.) श्री उपाध्याय जी का तर्क है कि दयानन्द ''फुलझड़ी छोड़ कर स्वयं अलग हो'' जाने ''और आयु भर कभी उसका उल्लेख भी नहीं'' करने वाले ''भीरू या उत्तरदायित्व शून्य'' व्यक्ति न थे। अतः यदि क्रान्ति में भाग लेना उनको अभिमत हुआ होता तो वे उसके विषय में स्पष्ट कहने से कभी न चूकते।

स्पष्टवादिता या निर्भीकता का अर्थ उपाध्याय जी यदि अव्यवहारिकता और मन्त्र गोपन की अक्षमता करते हों तो मुझे उनसे कोई विवाद नहीं। वे दयानन्द को शायद इतना मूर्ख साबित करना चाहते हैं कि दयानन्द अपना भेद बिना किसी प्रयोजन के प्रकट कर अपने अगले सारे कार्यक्रम और प्रयत्नों को विफल और निष्प्रयोजन बना देते।

१८५७ की क्रान्ति चेष्टा भी, मालूम होता है उपाध्याय जी की दृष्टि में फुलझड़ी छोड़ना मात्र थी। किन्तु कोई भी जिम्मेदार ऐतिहासिक ऐसा न कहेगा। भीरुता या उत्तरदायित्व शून्यता का तो यहां प्रश्न ही कहां आता है? क्या एक कार्य के सम्पादन के लिये एक तरह से किये गये प्रयत्नों की निष्फलता या अपर्याप्तता देख कर दूसरे प्रकार के उपायों की योजना और प्रयत्न करना ''फुलझड़ी छोड़ कर अलग हो जाना कहलायेगा?

(१०.) दयानन्द के गुरु विरजानन्द के विषय में मैंने अपनी पुस्तक में दिखाया है कि वे कोई साधारण साधु या पण्डित नहीं थे। उनका यौवन ब्रज में उस समय बीता था जब वहां स्वदेशी शासन का अन्त हो विदेशी का आधिपत्य स्थापित हुआ था। उन्हें उस राज्य परिवर्तन को अपने सामने होता देख यह अनुभव करने का मौका मिला था। १८१५ से ४० तक हाथरस, मुरसान, भरतपुर, अलवर आदि के जिस किसी पुराने जागीरदार, राजा या सरदार ने उस प्रदेश में अंग्रेजों के विरुद्ध उठने और वीरता पूर्वक उनसे टक्कर लेने का साहस किया विरजानन्द का सम्बन्ध उन सबसे घनिष्ठ था। एक दो को तो उन्होंने इनमें से स्वयं राजधर्म आदि पढ़ाया था।

१८५७ की विफलता से मालूम होता है भारत की पण्डित मण्डली के भीतर भी एक भारी विमर्श पैदा कर दिया था। हमारे समाज का एक बड़ा रोग उस विफलता के कारण स्पष्ट प्रकट हो गया था। भारत की पराधीनता के कारणों पर जो कोई भी व्यक्ति गहरा विचार करेगा, मध्यकालीन (अनार्ष) साहित्य का मूर्छा कारी प्रभाव एक मुख्य कारण के रूप में उसे स्पष्ट दिखाई देगा। विरजानन्द का आर्ष अनार्ष ग्रन्थों वाला आन्दोलन जिसे उनहोंने १८५७ के शीघ्र बाद और दयानन्द के मथुरा पहुँचने के कुछ ही पहले आरम्भ किया था, मालूम होता है उसी विमर्श का परिणाम था। विरजानन्द प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे और उसके ताजगी लाने वाले जीवनदायी प्रभाव को जानते थे। उन्होंने इस समय प्रतीत होता है कि स्पष्ट रूप से यह अनुभव किया था कि उस युद्ध की विफलता के कारणों में उस प्राचीन (आर्ष) साहित्य का पठन पाठन बन्द होकर मध्यकालीन (अनार्ष) भागवत जैसे अन्ध विश्वास फैलाने वाले ग्रन्थों का प्रचलन भी एक मुख्य कारण था।

मैंने पठनकाल में वर्णित दयानन्द विरजानन्द के बीच होने वाले एकान्त संलापों के विषय में अनुमान किया था कि उनमें शास्त्र चर्चा के अतिरिक्त देश की दशा पर भी गुरु शिष्य में अवश्य विमर्श होता होगा। श्री उपाध्याय जी को यहां कुछ औपन्यासियों की सी कल्पना की गन्ध आई है। वे लिखते हैं ''कि स्वामी विरजानन्द (सिर्फ) राजाओं द्वारा शास्त्रार्थ कराना चाहते थे। शास्त्रार्थ ही उनको प्रिय था। दयानन्द को भी उन्होंने आर्ष अनार्ष ग्रन्थों के विषय में शिक्षा दीक्षा (इसी अभिप्राय से) दी थी। वही उन का विषय था। क्रान्तिकारी लोगों का दृष्टिकोण सर्वथा इससे भिन्न था। उन्हें आर्ष अनार्ष से क्या प्रयोजन? यदि विरजानन्द में नैतिकता न होती तो वे कभी स्वामी दयानन्द को कौमुदी पर जूता लगाने को न कहते।'' मानो कौमुदी पर जूते लगवाना कोई बड़ा भारी नैतिकता का कार्य था और क्रान्ति में योग देना या उस तरह की प्रवृत्ति रखना अनैतिकता है। नैतिकता अनैतिकता की यह विचित्र परिभाषा श्री उपाध्याय जी को मुबारिक हो। मेरे जैसी तुच्छ बुद्धि के लोगों की दृष्टि में तो जिसे वे अनैतिक कहते है वही शायद नैतिकता की सबसे बड़ी निशानी ठहरे।

किन्तु विरजानन्द कैसे गुरु थे सो तो उनकी पाठ समाप्ति के बाद दयानन्द से मांगी गुरु दक्षिणा से ही प्रकट हो जाता है। देश के उद्धार और जनहित की कितनी उदात्त भावना और तीखी अनुमति उसमें से छलकती है। ऐसी गुरु दक्षिणा किसी शिष्य से मांगने के लिए आवश्यक है कि उससे पहले गुरु शिष्य में उस निमित्त काफी अन्तरंगता स्थापित हो चुकी हो, दोनों में विद्याभ्यास काल में उस पर काफी विमर्श होता रहा हो। विरजानन्द उस विषय में कितने उत्सुक थे यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि विद्या समाप्ति के बाद चार पांच बरस जब दयानन्द अपना कोई स्पष्ट कार्यक्रम प्रकट करने में असमर्थ रहे तो विरजानन्द सन्देशवाहकों द्वारा उनके पास बार–बार तकाजा करने और निराशा तक प्रकट करने लगे थे।

(११.) श्री उपाध्याय का अगला तर्क कि ''क्रान्ति के लिए संघटन करने के लिए मूर्ति खण्डन और पण्डितों से शास्त्रार्थ की आवश्यकता न थी'', ''अतः यदि विरजानन्द के हृदय में क्रान्तिकारी भावना जरा भी होती तो वे दयानन्द को और ही तरह की शिक्षा देते, दयानन्द की विचारधारा ही और प्रकार की होती'' और भी अद्भुत है। उपाध्याय जी यहां क्या इतना भी नहीं देख सकते कि जो क्रान्तिकारी देश में लोकतन्त्र की स्थापना के लिए आन्दोलन करता होगा, अपनी जनता में फैले अन्धविश्वासों को दूर करने का यत्न उसे सब से पहले करना होगा। भारत की जनता के अन्धविश्वासों को दूर करना यहां लोकतन्त्र की स्थापना की पहली सीढ़ी है।

(१२.) अन्त में मेरे इतिहास ज्ञान की खिल्ली उड़ाने के उद्देश्य से उपाध्याय जी ने मेरी दो गलतियों की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। उनमें पहली गलती तो यह है काशी शास्त्रार्थ की तिथि के विषय में, जो छपाई या प्रूफ संशोधन की चूक के कारण १८६६ ई० की बजाय १८७३ छप गयी है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। वह और वैसी दूसरी अनेक गलतियां पुस्तक के इस संस्करण में छपाई प्रूफ संशोधन की गफलत के कारण रह गई है जिनके विषय में अपनी वस्तु कथा के अन्त में पाठकों से क्षमा मांग चुका हूँ। तथापि उपाध्याय जी की इसे सुझा देने की कृपा के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। दूसरी गलती उन्होंने दिखायी है कि सत्यार्थप्रकाश के छठे राजधर्म सम्बन्धी समुल्लास को दयानन्द द्वारा १८८२ में उदयपुर में बैठकर लिखने और उसमें की विषय वस्तु महाराणा सज्जनसिंह को पढ़ाने के विषय में। उपाध्याय जी का कहना है कि यह समुल्लास प्रथम सत्यार्थप्रकाश में भी ज्यों का त्यों था, जो १८७४ में लिखा गया था।

प्रथम सत्यार्थप्रकाश इतनी सुलभ वस्तु नहीं है कि हर कोई उसे आसानी से देख सके। मेरा लक्ष्य इस पुस्तक में राजस्थान इतिहास की समीक्षा करना था, दयानन्द के जीवन पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या नयी खोज करना नहीं। उस पर तो मुझे प्रसंगवश कुछ ही पृष्ठ लिखने पड़े। उन्हें लिखते समय मेरे पास इतना समय या साधन कहाँ थे कि मैं दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में हर मूल स्रोत की सीधी परीक्षा कर सकता। इससे मुझे वहां अपनी सम्भावना मात्र प्रकट करके संतोष करना पड़ा था। उपाध्याय जी को प्रथम सत्यार्थप्रकाश की प्रति सुलभ हुई और उन्होंने उसे देख कर मेरी उक्त सम्भावना की गलती प्रकट करने की कृपा की इस पर मैं उनका बड़ा आभारी हूँ। तथापि मेरी पूरी तसल्ली इस विषय में तब होगी जब मैं प्रथम सत्यार्थप्रकाश और द्वितीय सत्यार्थप्रकाश में उस समुल्लास को पूरी तरह मिला कर देख लूंगा।

इस विषय पर अभी चर्चा का आरम्भ ही है। जो सज्जन इस विचार (बहस) में भाग लेना चाहें उनसे प्रार्थना है कि मतभेद होने पर रोष में न आयें और शान्त मन से इस विचार (बहस) में भाग लें।

●

स्वराज्य के मंत्रदाता महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उनके अनुयायी

– स्वामी आदित्यवेश

11 नवंबर 1950 को स्वतंत्र भारत के प्रथम गृहमंत्री लौह पुरुष सरदार पटेल ने अपने भाषण में कहा था कि देश की आजादी में महर्षि दयानंद और उनके अनुयायियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जब देश किंकर्तव्यविमूढ़ की गहरी खाई में पड़ा था तो उस गहरी खाँ से निकालने का काम महर्षि दयानंद सरस्वती ने किया था। उन्होंने ही स्वाधीनता की वास्तविक नीव डाली। देश की प्रधानमंत्री रही श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने एक भाषण में कहा कि यदि मैं आज प्रधानमंत्री हूं तो इसका श्रेय महर्षि दयानंद सरस्वती को जाता है। क्योंकि एक समय ऐसा था जब नारी को पढ़ने का अधिकार नहीं था उन परिस्थितियों में महर्षि दयानंद सरस्वती ने नारी जाति की वकालत करते हुए उसे समानता का अधिकार दिलाया। देश के पूर्व प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह प्रायः यह कहते थे कि ऋषि दयानंद मेरे धार्मिक गुरु हैं। विदेशी विद्वान डी. बैबले ने कहा वर्तमान स्वतंत्र भारत की वास्तविक आधारशिला में महर्षि दयानंद ने ही रखी थी। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान रोम्या रोला ने कहा था भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागरण के मसीहा ऋषि दयानंद हैं। डॉक्टर एनी बेसेंट ने अपनी पुस्तक "इंडिया ए नेशन" में लिखा है स्वामी दयानंद जी ने सर्वप्रथम घोषणा की थी कि "भारत भारतीयों" के लिए है। 20 अक्टूबर 1968 के सैनिक समाचार ने अपने अंक में लिखा था दादाभाई नरोजी पहले सज्जन थे जिन्होंने भारत पर अंग्रेजों के अधिकार जमाए रखने के विरुद्ध लिखा । वे पहले हिंदुस्तानी थे जिन्होंने शब्द स्वराज्य प्रयुक्त किया। एक दिन लोकमान्य तिलक ने हैरान होकर देखा कि पारसी विचारधारा को मानने वाले देशभक्त दादा भाई नौरोजी सत्यार्थ प्रकाश के पन्ने पलट रहे हैं। आपने विनोद में पारसी देशभक्त से प्रश्न किया कि आप आर्य समाजी बन गए हैं, नहीं मुझे स्वराज्य समर में स्वामी दयानंद के ग्रंथ से भारी प्रेरणा प्राप्त होती है, दादा भाई नौरोजी ने उत्तर दिया। लोकमान्य तिलक ने 1916 में "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार" होने की घोषणा की थी। परंतु स्वामी दयानंद सरस्वती के विषय में श्री लोकमान्य ने लिखा ऋषि दयानंद जाजव्यल्यमान नक्षत्र थे जो भारतीय आकाश पर अपनी अलौकिक आभा से चमके और गहरी निद्रा में सोए हुए भारत को जागृत किया और स्वराज्य के वह सर्वप्रथम संदेशवाहक तथा मानवता के उपासक थे। स्वाधीनता आंदोलन के नेता बिपिन चंद्र पाल जी ने अपने ग्रंथ "वर्तमान भारत में स्वतंत्रता आंदोलन का प्रारंभ" के अंदर इन शब्दों में प्रकट किया है कि "यह दयानंद ही था जिसने उस आंदोलन की आधारशिला रखी जो बाद में धार्मिक राष्ट्रीयता के नाम से जाना गया।" उनके आंदोलन ने उन हिंदुओं में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की जो शताब्दियों से आत्महीनता के गर्त में पड़े थे और साथ ही देश की जनता को वेद के आधार पर स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व की भावना प्रदान की।

भारत को स्वतंत्रता दिलाने के लिए क्रांतिकारी आंदोलन के जन्मदाता श्यामजी कृष्ण वर्मा को महर्षि दयानंद जी ने अपने व्यय से इंग्लैंड में विशेष शिक्षा प्राप्त करने व भारतीय धर्म, संस्कृति, स्वतंत्रता प्राप्ति की आग फूंकने की दृष्टि से भेजा था। उन्होंने इंग्लैंड जाते ही 1905 में इंडियन होम रूल सोसाइटी की स्थापना की। जिसका लक्ष्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति था। उन्होंने भारतीय समस्याओं पर विचार प्रकट करने के लिए वहां इंडिया हाउस की स्थापना की और अपने विचारों को प्रकट करने के लिए इंडियन सोशलिस्ट नामक पत्र भी निकाला। 1916 में आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपत राय ने अमेरिका जाकर भारत की स्वतंत्रता के लिए वहां वातावरण उत्पन्न करने की दृष्टि से इंडियन होम रूल लीग नामक संस्था की स्थापना की। उन्हीं के प्रचार का परिणाम था कि अमेरिका की जनता व सरकार सदैव भारत की स्वतंत्रता का समर्थन करती रही। महर्षि दयानंद सरस्वती से प्रेरित होकर आजादी के आंदोलन में अग्रणी नेताओं में शामिल स्वामी श्रद्धानंद, देवता स्वरूप भाई परमानंद, लाला लाजपत राय, भवानी दयाल संन्यासी (दक्षिण अफ्रीका) अंबा प्रसाद, गेंदालाल दीक्षित, दादा अर्जुन सिंह, चाचा अजीत सिंह, शहीद ए आजम भगत सिंह, लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंकने वाले भाई बालमुकुंद (जो भाई परमानंद जी के चचेरे भाई थे) शहीद–ए–आजम राम प्रसाद बिस्मिल, मदन लाल धींगरा, श्यामजी कृष्ण वर्मा के विशेष शिष्य तीनों चापेकर बंधु, न्यायमूर्ति गोविंद रानाडे (जो परोपकारिणी सभा के सदस्य भी रहे) महाशय रतन चंद, डॉक्टर सत्यपाल, माता रतन देवी, इंद्र विद्यावाचस्पति, स्वामी स्वतंत्रानंद, महात्मा आनंद स्वामी, महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, लाला सुनाम राय, खुशीराम, भगवानदास, सुखदेव, प्रो. प्रेम दत्त, वीरचंद्र सिंह गढ़वाली, स्वामी अभेदानंद आचार्य नरदेव, चौधरी चरण सिंह चंद्रभान गुप्त, चौधरी वेदव्रत, महात्मा आनंद स्वामी के पुत्र रणवीर सिंह, कृष्णानंद प्रो. ताराचंद गाजरा, प्रो. आनंद बलदेव गजरा, लाला जगत नारायण, युद्धवीर सिंह, भीमसेन सच्चर, लेहना सिंह, श्यामजी कृष्ण वर्मा की प्रेरणा से गदर पार्टी की संस्थापना करने वाले लाला हरदयाल जैसे सैकड़ों आर्य नेताओं ने स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व किया। कितने ही ऐसे क्रांतिकारी थे जो भले ही सीधे तौर पर आर्य समाज से नहीं जुड़े थे लेकिन आर्य समाज मंदिरों में, गुरुकुल में और डीएवी स्कूलों में जहां शरण लेते थे वही उनके प्रांगण में बैठकर के आजादी के आंदोलन की रणनीति बनाते थे। उस समय कि कांग्रेस और आर्य समाज दोनों के नेता एक साथ मिलकर के आजादी के आंदोलन को आगे बढ़ा रहे थे। वहीं आर्य समाज संगठन अपने स्तर पर भी अलग से समस्त आंदोलन की गतिविधियों में अलग–अलग तरह से भूमिका निभा रहे थे। अपने संस्थापक के स्वतंत्रता प्रेम तथा देशभक्ति के भावों से प्रेरणा लेकर आर्य समाज ने अपने शैशव काल से ही भारत के स्वाधीनता संग्राम में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

1857 का प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन अंग्रेजों ने बहुत ही क्रूरता से कुचल दिया था तथा भारत का शासन इस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया। 1858 में प्रयाग से विक्टोरिया के नाम से अपील निकली कि हमारी अंग्रेज सरकार भारत की खुशहाली और उन्नति चाहती है। आप सभी भारतवासी भारत की उन्नति के लिए अंग्रेज सरकार का सहयोग करें। अंग्रेजों की इस कुटिल चाल को किसी ने नहीं समझा। किन्तु दूरद्रष्टा महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने इस पर करारा प्रहार करते हुए सिंह गर्जना की कि कोई कितना ही करे, स्वदेशी राज्य सर्वोपरि होता है। स्वराज्य, स्वाधीनता, स्वभाषा और स्वतंत्रता का उदघोष महर्षि दयानंद ने उस समय किया। ऋषि के आह्वान के बाद आर्य समाजों ने स्वदेशी वस्त्रों को पहनने, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करने की मुहिम प्रारंभ की। इसकी व्यवस्था हेतु आर्य समाज में दुकान खोलना, स्वराज्य के लिए संघर्ष करना, उस पर विचार रखना, लोगों को जागरूक करना आर्य समाज के सत्संग का आवश्यक अंग था। यह वह दौर था जब सांगठनिक रूप से कांग्रेस और आर्य समाज आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। समाज सुधार के कार्यक्रम और राष्ट्रवादी विचारधारा की बातें एक जैसी होने के कारण तथा देश की स्वतंत्रता का उद्देश्य भी दोनों का एक होने के कारण उस समय के आर्य समाज के बड़े नेताओं ने कांग्रेस के साथ मिलकर आजादी के आंदोलन को आगे बढ़ाने तथा उसकी समस्त गतिविधियों में सक्रिय सहभागिता करने का महान कदम उठाया। आंदोलन के बड़े नेताओं की बातों को जन–जन तक पहुंचाने का मुख्य कार्य भजनोपदेशक करते थे। उस जमाने में आर्यसमाजी होना "मौत को आमंत्रण देना था" कि कहानी को दर्शाता था। अक्सर क्रांतिकारी आर्यसमाजियों के यहां गुप्त रूप से ठहरा करते थे। क्रांतिकारियों के साथ एक दल और था : 'भजनोपदेशक', जिनका कार्य अत्यंत महत्व का था। परंतु लेखकों ने उनके योगदान को इतिहास में समुचित स्थान नहीं दिया। आजादी के आंदोलन में आर्य समाज के अनेक वीरों का बलिदान हो गया। इन वीरों को तैयार करने वाले भजनोपदेशक ही थे। यदि हम सिर्फ हरियाणा क्षेत्र के भजनोदेशकों की बात करें तो मास्टर नत्थू सिंह जी, चौधरी भोलाराम तेवड़ी सोनीपत ने 19070 में चाचा अजीत सिंह तथा लाला लाजपत राय के नेतृत्व में संचालित प्रथम किसान आंदोलन में भाग लिया। दोनों ने लाहौर, देहली की जेलों में कठोर यातनाएं भोगी। इनका छः वर्ष का कारावास रहा। सभी समझ सकते हैं अपनी आवाज उठाना उस जमाने में मौत को निमंत्रण देने जैसा था। इन्हीं में से स्वामी भीष्म जी महाराज (घरौंडा वाले) थे। क्रांतिकारियों के साथ आंदोलन की रुप रेखा तैयार करने का एक स्थान, स्वामी जी का आश्रम भी था। यहाँ भगत सिंह, राजगुरु, चन्द्रशेखर गुप्त रूप से ठहरा करते थे। भगत सिंह इत्यादि की फांसी के पश्चात अंग्रेजी पुलिस क्रांतिकारियों की छानबीन कर रही थी तो स्वामी भीष्म जी के आश्रम पर भी छापे मारी हुई। स्वामी जी ने अंग्रेजी राज में अपने गुरुकुल पर तिरंगा फहरा दिया, जब कि मधुबन पुलिस का ट्रेनिंग सैंटर बहुत ही कम दूरी पर था। जांटी गांव के पंडित शिवलाल जी अरावली क्षेत्र में वेद पाठशाला चलाते रहे। अंग्रेज भक्त लोग इनकी सूचना पुलिस को देते थे। आजादी के पश्चात पंडित जी बदरपुर वेद पाठशाला चलाते रहे। पंडित बोहतराम जुड़ोला, स्वामी विद्यानन्द, स्वामी केवलानन्द इत्यादि क्रांतिकारी भजनोपदेशक थे। जीवन पर्यंत आर्य समाज के माध्यम से आजादी के तराने गाकर लोगों को अंग्रेज के खिलाफ लामबद्ध करते रहे। चौधरी तेजसिंह मलिक के क्रान्तिकारी भजन सुनकर अंग्रेज बौखला गये। इनको पकड़ कर जेल में डाल दिया। इनके उपर अभियोग चला परंतु जेल से जल्द ही रिहा हो गये। चौधरी रामगोपाल छारा जैसे कर्मठ सेनानी इनकी प्रेरणा से कार्य करते रहे।

आज़ादी का अमृत महोत्सव

ऐसे ही झज्जर के बुपनिया गांव के श्री पंडित बालमुकुंद जी थे। वो रेलवे में लोकोपायलट थे। वर्ष 1919 के जलियांवाला बाग हत्याकांड के पश्चात आप ने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। स्वतंत्र प्रचार करके आजादी के आंदोलन में कूद पड़े। इन्हीं के गुरु स्वामी नित्यानंद जी महाराज ने झज्जर के घंटा घर पर तिंरगा फहरा दिया था। खबर सुनते ही रोहतक जिले में हड़कंप मच गया। अंग्रेज मुखबिर इन पर निगरानी रखते थे। लेकिन कभी हाथ नहीं आए। इनके गुरु चौधरी ईश्वर सिंह गहलोत भी पीछे नहीं थे। स्वतंत्रता का जमकर प्रचार किया। कुँवर जौहरी जैसे देशभक्त वीर इन्होंने तैयार किये।

हैदराबाद के सत्याग्रह के समर्थन में विशाल जुलूस रोहतक की सड़कों पर शक्ति प्रदर्शन कर रहा था तो निजाम के लोगों ने अचानक हमला कर दिया। इसमें गुरुकुल भैंसवाल से चौधरी स्वरुपलाल, हरिद्वारी सिंह तथा गुरुकुल के 35 ब्रह्मचारी बुरी तरह घायल हो गए। इन्हीं में जींद जिले पंडित प्रभुदयाल जी को भी गहरी चोटे आई। स्वामी नित्यानंद जी का सिर फुट गया। स्वस्थ होते ही यें आर्यवीर हैदराबाद में कुच कर गये। पंडित प्रभुदयाल जी लिखते हैं हमारे गले में हारमोनियम, ढोलक वादक के गले में ढोलक, चलते फिरते हैदराबाद की सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे थे। हमें पकड़ कर जेलों में डाल दिया। निजाम सरकार सिमेंट मीली आटे की रोटी जब दिया करती थी उस से अधिक तो हम परिश्रम कर पसीना बहा दिया करते थे। स्वामी नित्यानंद जी ने हैदराबाद के वीरों पर भजन बनाया :–

इतिहासो में नाम रहेगा उन्हीं का संसार में!
जो धर्म खिलाड़ी जा पाये हैदराबाद में!!

इस भजन में सभी जत्थेदारों के नाम व गांव वर्णित है। श्री भक्त फूलसिंह जी के मना करने पर भी जसराणा के कुंवर जौहरी हैदराबाद पहुंच गए। समझाने पर कुंवर साहब रोहतक आकर सत्याग्रही भेजते रहे। पंडित भूरा राम चिड़ी, पंडित बलवीर झाभर खांडा अलेवा सत्याग्रह में गए। इसी आंदोलन में चौधरी पृथ्वी सिंह बेधड़क को बेड़ियों में जकड़ दिया गया। क्योंकि उन्होंने दूषित भोजन पर आवाज उठाई थी। निजाम के सिपाही बौखला गये। इनको बेड़ियों में जकड़ दिया गया। जेल से छूटने के घर लोटे ओर छः महिने तक उपचार हुआ। स्वतंत्रता आंदोलन में रोहतक के चौधरी मेहर सिंह भजनोपदेशक को 6 बार जेल हुई। कांग्रेस का जुलूस रोहतक की सड़कों पर निकल रहा था, कि अंग्रेज भक्त लोगों ने इन पर हमला कर दिया। लोहारु नवाब इस क्षेत्र में आर्यसमाज की सभी गतिविधियों को कुचल रहा था। धर्मान्धता में चूर नवाब के सिपाहियों ने जींद जिले के धारी भजनी को खाट से बांध कर बुरी तरह पीटा। इसके पश्चात स्वामी नित्यानंद वहां सत्याग्रह का माहौल तैयार करते रहे। आर्य समाज ने हैदराबाद नवाब की तरह लोहारु के धर्मान्ध नवाब को भी घर में घुस कर रौंद डाला। सभी प्रतिबंध हटाये गये। वहाँ आर्य समाज नियत हुई, मंदिर बना। इसी क्षेत्र में पटियाला एवं जींद रियासत के विरुद्ध प्रजा मंडल आंदोलन हुए। इनमें चौधरी धर्मपाल भालोठिया, महाशय मौजीराम मिसरी वाले, पंडित मनसाराम त्यागी पंचगामा, शिवकरण डोहकी, चौधरी भरत सिंह इत्यादि प्रमुख भजनीक थे।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं देश की आजादी में आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानंद से प्रेरित भजनोपदेशकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। जहां इन्होंने अंग्रेज की यातनाएं सही वहीं घर घर जाकर आजादी के लिए लोगों को जागरूक किया तथा उस समय के नेताओं की बातों को जन जन तक पहुंचाने का कार्य भी किया। आज जब पूरा देश आजादी का अमृत महोत्सव मना रहा है तो इन महान आत्माओं को याद करना तथा उन्हें श्रद्धांजलि देना हमारा नैतिक दायित्व बनता है। भले ही आजकल के राजनेता महर्षि दयानंद सरस्वती व उनके अनुयायियों के आजादी के आंदोलन में योगदान की उपेक्षा करते रहें। लेकिन आजादी के अमृत महोत्सव के अवसर पर आर्य समाज के संन्यासियों, नेताओं, उपदेशकों, भजनोपदेशको तथा कार्यकर्ताओं को यह संकल्प लेना होगा कि वो जन–जन तक आर्य समाज तथा ऋषि दयानंद के आजादी में योगदान को गांव–गांव जाकर बताएं। आर्य समाज के प्रचारक इस विषय में पारंगत भी हैं। वो कम से कम एक वर्ष तक अपने प्रत्येक कार्यक्रम में इन बातों को प्राथमिकता दें। हमारे पूर्वजों के योगदान को हम ही प्रत्येक भारतीय तक पहुंचाएंगे और यही इनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। आजादी के आंदोलन में अपना बलिदान देने वाले समस्त ज्ञात व अज्ञात आंदोलनकारियों को हमारा शत्–शत् नमन।

आर्य समाज की रक्षा – एक यक्ष प्रश्न

– डॉ. सोमदेव शास्त्री

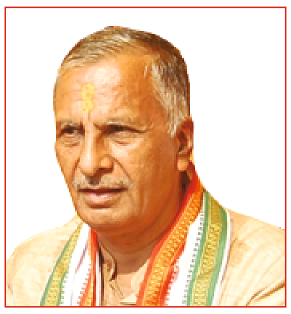

आर्य समाज सन 2024 और 2025 में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का 200वां जन्मदिवस तथा आर्य समाज का 150वाँ स्थापना दिवस विशाल रूप से मनाया जाए इस विषय में आर्य समाज के पदाधिकारी विचार कर रहे हैं। आर्य समाज स्थापना शताब्दी 1975 के समय जितने संन्यासी, विद्वान, शास्त्रार्थ महारथी, भजनों के माध्यम से वैदिक सिद्धांतों को जन–जन तक पहुंचाने वाले प्रतिष्ठित आर्य भजनोपदेशक, समर्पित कार्यकर्ता और पदाधिकारी थे। आज वे दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। वैदिक सिद्धांतों के शिक्षण केंद्र, विद्वानों के निर्माण स्थल, वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार के लिए समर्पित जीवन निर्माण के केंद्र गुरुकुल थे, आज उनको समाप्त करने का गहन षड्यंत्र तथाकथित साम्प्रदायिक संगठन तथा विविध प्रांतीय शिक्षा बोर्डों के माध्यम से, अदूरदर्शी व्यक्तियों को आर्थिक प्रलोभन (सरकारी सर्विस से प्राप्त अर्थ लाभ) दिखाकर आर्य समाज को कार्यकर्ता विहीन बनाने का प्रयत्न हो रहा है। महर्षि दयानन्द ने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, दर्शनशास्त्र, ब्राह्मण एवं वेदादि शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन (आर्ष पाठ विधि) का उल्लेख किया है। जब तक सरकारी परीक्षा से दूर रहकर इन ग्रंथों का पठन–पाठन होता रहा तब तक ये ग्रंथ सुरक्षित रहे तथा विद्वान भी तैयार होते रहे। गुरुकुलों के तत्कालीन आचार्य आर्थिक प्रलोभन में नहीं आयें तथा अपने लक्ष्य वैदिक धर्म की रक्षा में लगे रहें। सन् 1917 में चेम्सफोर्ड (अंग्रेज अधिकारी) गुरुकुल कांगड़ी को देखने आया उस समय उसने अंग्रेज सरकार की ओर से एक लाख रुपये गुरुकुल को देने की घोषणा की तब स्वामी श्रद्धानन्द जी ने यह कहकर ठुकरा दिया कि मैं सोने के पिंजरे में बंद होना नहीं चाहता। उन्होंने सरकारी उपाधियां/डिग्री लेना भी स्वीकार नहीं किया। विद्यालंकार, वेदालंकार , सिद्धांतालंकारादि अपनी उपाधियाँ दी। उस समय गुरुकुल कांगड़ी के जो भी स्नातक निकले उन्होंने अपनी विद्वता से दुनिया के हर क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित किया। गुरुकुल झज्जर (हरियाणा) सन् 1965 में श्री भक्त दर्शन शिक्षा राज्य मंत्री (भारत सरकार) आए थे। उन्होंने सरकारी अनुदान देने और गुरुकुल में सरकारी परीक्षा होनी चाहिए का सुझाव दिया था। उसका तुरन्त विरोध करते हुए आचार्य भगवान देव (स्वामी ओमानंद जी) ने कहा था कि मैं सरकारी नौकर नहीं, मैं विद्वान तैयार कर रहा हूँ और किसानों से ब्रह्मचारियों के लिए अन्न मांगता हूँ। इसी भावना का परिणाम था कि 1965 से पहले जितने विद्वान स्नातक गुरुकुल झज्जर से निकले उन्होंने आर्य समाज के हर क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। सरकारी परीक्षाओं के शुरू होने पर वह श्रृंखला बन्द हो गई। चाहे गुरुकुल कांगड़ी हो, गुरुकुल वृंदावन हो या गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर हो सबने अपनी उपाधियाँ, अलंकार, स्नातक भास्कर दी। लेकिन सरकारी सहयोग नहीं लिया। आर्य समाज के लिए एक से एक मूर्धन्य विद्वान तैयार हुए। जिन्होंने लेखन प्रचार शास्त्रार्थ, पत्रकारिता और देश की स्वतंत्रता के लिए महान कार्य किया और आत्म बालिदान दिया। देव दयानंद के अनुयायियों का नैतिक कर्त्तव्य है कि दयानन्द के निर्दिष्ट आर्ष पाठ विधि के पठन–पाठन की प्रक्रिया को सुरक्षित रखें।

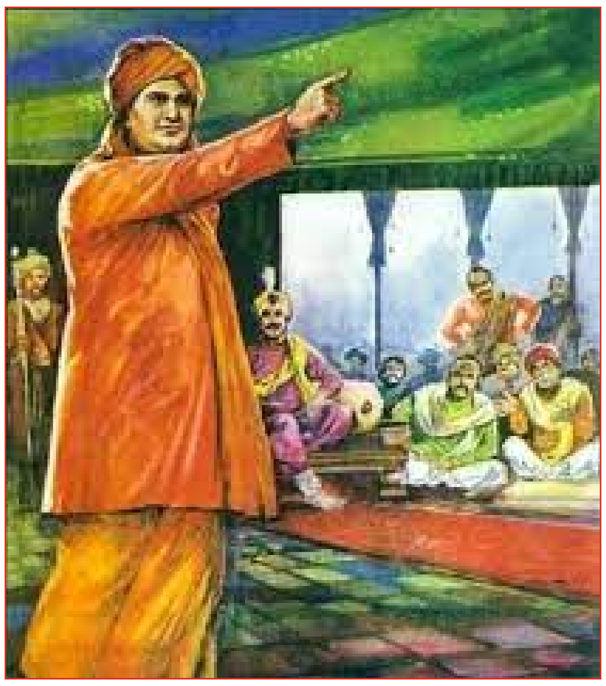

सरकारी परीक्षा देने व सरकारी नौकरी करने की कामना वाले व्यक्तियों पर ही ध्यान न देकर जो आर्ष पाठ विधि के पठन–पाठन और उसकी सुरक्षा के लिए अपना जीवन समर्पित करने वाले व्यक्तियों के लिए दानी महानुभाव और पदाधिकारी पूरा ध्यान दें। जिन्होंने अपना लक्ष्य (ब्राह्मणेननिष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति)।

प्रत्येक गुरुकुल में सरकारी परीक्षा देने वालों के अतिरिक्त आर्ष पाठ विधि के पठन–पाठन की एक कक्षा हो, भले ही उसमें दो चार समर्पित बालक बालिकाएं हों। अध्ययन के समय और अध्ययन के बाद निःस्वार्थ भाव से आर्य समाज का कार्य करने वाले समर्पित विद्वानों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उदारमना दानी महानुभाव, वैदिक धर्म की रक्षा का व्रत लेने वाले समर्पित विद्वानों के द्वारा ही वैदिक धर्म सुरक्षित रहेगा। यह बात तथाकथित नेताओं को हृदय में डाल लेनी चाहिए अन्यथा आर्य समाज की स्थिति प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज की तरह हो जाएगी। सन् 1829 या उसके आस–पास बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना हो गई थी तथा 1869 में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हो गई थी। अपने लक्ष्य से भटकने के कारण दोनों संस्थाओं का नाममात्र शेष रह गया है। कहीं यही स्थिति आर्य समाज की न हो जाए। वे लोग मरे हुए हैं जो अपने सामने अपने कुल समाज का विनाश होता देखते हैं। ("मृतास्ते ये तु पश्यंति देशभंगं कुलक्षयम्") परिवार या समाज ईंट पत्थरों से बने हुए भवन से सुरक्षित नहीं रहता। अपितु उन भवनों में रहने वाले व्यक्तियों से समाज या परिवार सुरक्षित रहता है। व्यक्तियों के निर्माण के लिए पंच महायज्ञ, वर्णाश्रम व्यवस्था, षोडश संस्कार विधि को व्यवहार में अपनाना आवश्यक है। जनसंपर्क के लिए जनसेवा जिसे ऋषि ने स्पष्ट किया था कि "संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है" इस ओर ध्यान न देने से भी समाज में शिथिलता आ रही है। आज नेता, पदाधिकारी, विद्वान, संन्यासी अपने उत्तराधिकारियों का निर्माण करने के विषय में गंभीर नहीं हैं। एक दिन उन्हें दुनिया से जाना ही है। इसका कोई विकल्प नहीं है। अतः अपने सामने उत्तराधिकारी तैयार किया जाए। अपने अनुभव से उनका मार्ग प्रशस्त किया जाए और भविष्य में आने वाली समस्याओं से सावधान किया जाए। इस ओर ध्यान न देना यह भी एक सामाजिक अपराध है। अपने उत्तराधिकारी को तैयार करें और ऋषि दयानन्द के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करें। ऋषि दयानन्द ने लगभग 58–59 वर्षों की आयु में अपनी उतराधिकारिणी परोपकारिणी सभा बना दी थी। इतना ही नहीं अपनी वसीयत में अपने अंत्येष्टि संस्कार की भी चर्चा कर दी थी जिससे हजारों वर्षों से चली आ रही (संन्यासी को जल समाधि की) मिथ्या परंपरा को दयानन्द ने तोड़ दिया। आर्य समाज से तहरीर और तकरीर लेखनी और वाणी से प्रचार का कार्य चलता रहे यह पंडित लेखराम ने अंतिम समय में कहा था। और यह तभी सम्भव है जब आर्य समाज कार्यकर्ताओं के निर्माण पर केंद्रित होगा। कार्यकर्ताओं का निर्माण आर्य वीर दल व आर्य वीरांगना दल के शिविरों से आर्य समाज की दैनिक शाखाओं से होगा। विद्वानों का निर्माण, जीवनदानी कार्यकर्ताओं का निर्माण गुरुकुलों से होगा। इस लिए आर्य समाज के भविष्य को देखते हुए विद्वान निर्माण व कार्यकर्ता निर्माण का कार्य तेज करना चाहिए।

अध्यक्ष, वैदिक मिशन मुम्बई, मो.:–9869668130

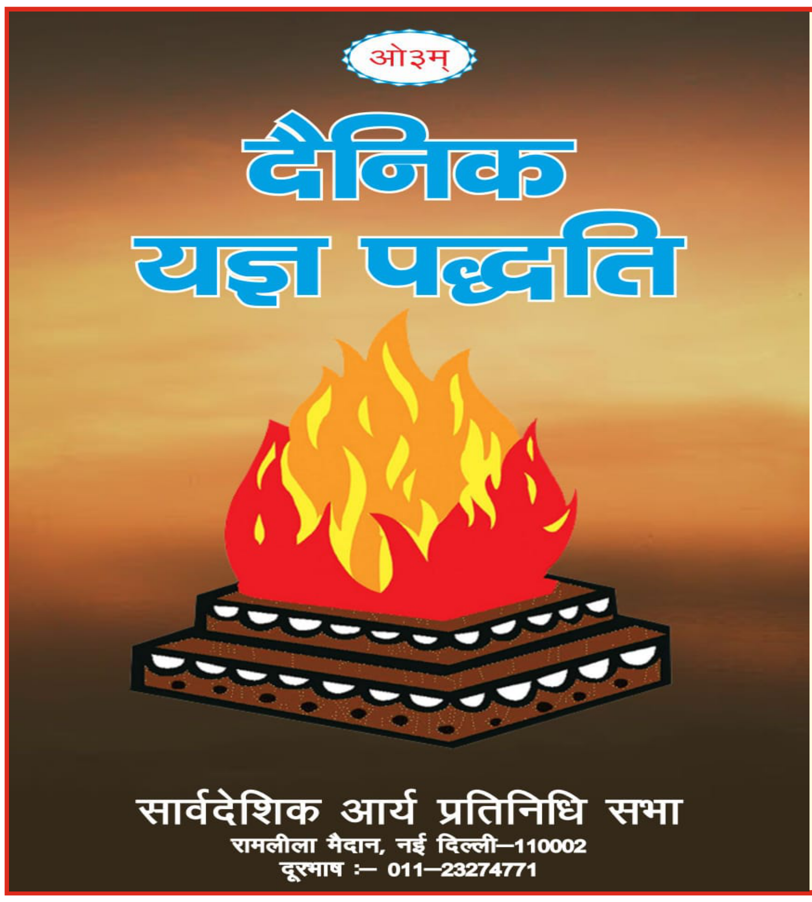

ओ३म्
दैनिक यज्ञ पद्धति
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
रामलीला मैदान, नई दिल्ली–110002
दूरभाष :– 011–23274771

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
द्वारा प्रकाशित
'दैनिक यज्ञ पद्धति'

आर्यजनों की भारी माँग पर आर्य समाजों के साप्ताहिक सत्संगों तथा विशिष्ट बृहद्यज्ञों की सामान्य यज्ञ पद्धति (महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रणीत पंच महायज्ञ सहित) इस पुस्तक में समाहित की गई है। इसके अतिरिक्त विशेष मन्त्र, विशेष प्रार्थनाएँ तथा भजन संग्रह का भी समावेश इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में किया गया है। यज्ञ की यह पुस्तक अत्यन्त आकर्षक तथा सुन्दर टाईटल के साथ बढ़िया कागज के ऊपर छपकर तैयार है। 50 पृष्ठों तथा 23X36 के 16वें साईज की इस पुस्तक का मूल्य 18/ रुपये रखा गया है। लेकिन 100 पुस्तक लेने पर मात्र 1000/– रुपये में उपलब्ध कराई जा रही है। डाक व्यय अतिरिक्त देय होगा।

प्राप्ति स्थान – सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
"महर्षि दयानन्द भवन" 3/5 आसफ अली रोड, नई दिल्ली–2
दूरभाष :–011–23274771, 011–42415359
मो.:–9868211979

1857 का स्वतन्त्रता संग्राम और महर्षि दयानन्द

–सत्यप्रिय शास्त्री, सिद्धान्त शिरोमणि

विदेशी शासकों की और विशेषकर ब्रिटिश गवर्नमेंट की घातक चालों के परिणाम स्वरूप यहाँ की जनता में उस समय राज्य के विरुद्ध सर्वप्रथम जो महान् विस्फोट हुआ वह यही स्वाधीनता का प्रथम संग्राम था, जिसमें भारत के अटक से लेकर कटक तथा कश्मीर से कन्या कुमारी तक के विभिन्न मतवादी निवासियों ने पारस्परिक–सभी मतभेदों को भुलाकर एक सूत्र में संगठित हो अंग्रेजों के दासत्व के जुवे को अपने कन्धों से उतार फेंकने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।

अंग्रेजों को भारत से उनके घर भेजने की पूर्व निश्चित यह एक योजना थी, जिसको भारत के विभिन्न प्रान्तों के प्रभावशाली व्यक्तियों ने मिलकर तैयार किया था। यह योजना तैयार कर उसे सफलता की ओर ले जाने वालों में ऋषिवर दयानन्द, दण्डी स्वामी विरजानन्द एवं उनके गुरु स्वामी पूर्णानन्द जी भी सम्मिलित थे, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए एक लेखक लिखता है, ''विरजानन्द ने अपने प्रज्ञानेत्रों से साक्षत् कर लिया था कि भारत की दुर्दशा के दो प्रधान कारण हैं, एक अनार्ष ग्रन्थ प्रसार तथा दूसरा विदेशी राज्य। आज मुक्त ऐतिहासिक मुक्त कण्ठ से कहते हैं कि विरजानन्द तथा उनके गुरु पूर्णानन्द सरस्वती ने इस संग्राम का आरम्भ कराया था। इसके लिए वे दो हेतु प्रस्तुत करते हैं। संवत् १९१४ विः १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य संग्राम में जिन राजाओं ने भाग लिया वे सबके सब विरजानन्द के शिष्य थे, उस समय के राजाओं की जैसी प्रवृत्ति हो रही थी उसको देखते हुये यह कहा जा सकता है कि समर में जूझने की भावना उनकी अपनी न थी, वह किसी दूसरे की प्रेरणा से प्रसूत थी, स्वभावतः ही यह मानना पड़ता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति की थी जिसकी बात टालने का उन्हें साहस न होता था। भारतीय संस्कृति में गुरु ही उच्च पदस्थ एक ऐसा व्यक्ति है कि जिसकी आज्ञा के उल्लंघन करने की कल्पना भी सच्छिष्य में आ ही नहीं सकती। दूसरा प्रमाण वे यह उपस्थित करते हैं कि जिज्ञासु दयानन्द १८५५ ई० में कनखल में विरजानन्द के गुरुदेव स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती की सेवा में विद्या–प्राप्ति के निमित्त पहुँचते हैं। जो उन्हें कहते है कि हम बहुत वृद्ध हो चुके हैं, हम आपका मनोरथ पूर्ण करने में असमर्थ हैं, आप मथुरा जाइये, वहाँ विरजानन्द सरस्वती हमारे योग्य शिष्य रहते हैं, वे आपकी मनः कामना पूर्ण करेंगे। व्यग्र दयानन्द कनखल से सीधे मथुरा नहीं जाते, वे उत्तराखण्ड की ओर चलकर कानपुर तथा नर्मदा के परिसर पहुँचते हैं यह वह क्षेत्र है जहाँ स्वतन्त्रता–संग्राम का आयोजन किया जा रहा था तो क्या यह समझना उचित न होगा कि वृद्ध पूर्णानन्द ने युवा बलिष्ठ दयानन्द को उस ओर प्रेरा हो। भले ही कुछ लोगों को ये तर्क प्रबल न जँचे किन्तु ये ऐसे दुर्बल वा हीन भी नहीं हैं कि इनकी उपेक्षा की जा सके **(''विरजानन्द चरित पृ० ११८-११६ ले० स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती)**

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए एक और विख्यात इतिहासकार लिखता है कि–

''अप्रैल १८५५ से जबकि उसका दूसरा समवयस्क (नाना धोंधों पन्तराव) भारत का पेशवा बनने के बाद क्रान्ति–यज्ञ के समारम्भ में दीक्षित होने जा रहा था। मार्च १८५७ तक वह प्रायः गंगा के साथ गंगोत्तरी और बदरीनाथ से बनारस तक गढ़वाल रूहेलखण्ड दोआब और काशी के प्रदेशों में घूमता रहा, जहाँ तब क्रान्ति की तैयारियाँ जनता के भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं। १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर गया, और आगे पांच मास तक कानपुर इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। फिर बनारस, मिर्जापुर चुनार होकर मार्च १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं और नाना साहब के सैकड़ों संदेशवाहक साधु फकीरों आदि के रूप में पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, देश के हर कोने में क्रान्ति का संदेश लेकर रवाना हुए और स्वयं नाना साहब और (उनके मन्त्रदाता) अजी मुल्ला खाँ भी क्रान्ति आरम्भ करने की तारीख निश्चित कर उसकी सारी तैयारी अपनी आँखों से देख लेने को तीर्थ यात्रा करने निकले तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिए दक्खिन की ओर निकल पड़ा, अपने आरम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहाँ एकाएक अन्त हो जाता है। आगे तीन वर्ष क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहाँ रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगति उसने कभी नहीं दी। यह कहना तो कठिन है कि क्रान्तियुद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका क्या रुख रहा, और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं, तो भी उसकी जीवन घटनाओं की विधियों का जो संक्षिप्त सा विवरण ऊपर दिया गया हैं, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही सकती है कि क्रान्ति की तैय्यारियों आदि से उसे निकट परिचय करने का अवसर अवश्य मिला। यह बात मान लेना आसान नहीं कि दयानन्द के सदृश भावनाप्रवण और चेतनावान हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा हो और उस युद्ध की सफलता विफलता की उस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो, अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह पूरी चुप्पी भी कम अर्थ भरी प्रतीत नहीं होती **(द्रष्टव्य- ''हमारा राजस्थान पृ० २६७-६८, पृथ्वी सिंह मेहता विद्यालंकार'')**

''दयानन्द को विरजानन्द के पास पढ़ने की प्रेरणा विरजानन्द के गुरु पूर्णानन्द ने १८५५ में ही दी थी, परन्तु क्रान्ति आंदोलन के शीघ्र छिड़ जाने की सम्भावना के कारण प्रतीत होता है कि उनकी मनःस्थिति तब गम्भीर अध्ययन की ओर न थी, किन्तु उसकी विफलता ने १८६० में वह मनः स्थिति पैदा कर दी। **(हमारा राजस्थान पृ० २६०)**

कुछ आर्य भाई राजकोट जाने के लिए हमारे साथ बैठे, उनमें एक रेल कर्मचारी हैं, उन्होंने बताया कि १८५७ ई० के समय नाना धुन्धु पन्त को सुरक्षित रहने के लिए मौरवी के सामन्त के नाम ऋषि दयानन्द ने पत्र देकर भेजा था, सुना है कि वह पत्र किसी सेठ के पास सुरक्षित रहा **(''देखिये :- २/६/६५ के आर्योदय साप्ताहिक देहली में श्री जगदेव सिंह सिद्धान्ती सदस्य लोकसभा का 'मेरी दक्षिण भारत यात्रा' नामक लेख (पृ० ८ कालम २)।**

इतिहास के नये अनुसंधान

आज के अनुसंधान एवं जागृति के युग में तो सत्यजिज्ञासु जागरूक इतिहासकार सचेत होने लगे हैं, निम्न तथ्य इस बात के मुँह बोलते चित्र हैं:–

ब्रिटिश सत्ता के उन्मूलन के लिये १८५७ ई० में जो राज्य–क्रान्ति हुई थी उसमें ऋषि दयानन्द ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, इतिहास की इस नवीन स्थापना पर आज यहां गोष्ठी में महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई। लाहौर के वयोवृद्ध पत्रकार तथा समाजसेवी श्री वासुदेव वर्मा ने इस विषय पर अपना निबन्ध पढ़ते हुये अनेक नवीन तथ्यों पर प्रकाश डाला। स्वामी पूर्णानन्द से ब्रिटिश अत्याचारों की हृदयद्रावक कथा सुनकर किस प्रकार ऋषि दयानन्द ने तांत्या टोपे और नाना साहब से निकट सम्पर्क स्थापित किया और किस प्रकार योजनाबद्ध रूप से क्रान्ति के इन नेताओं ने विभिन्न रियासतों तथा आम जनता को संगठित करने का प्रयत्न किया, यह इतिहासकार संघ की इतिहास परिषद् की ओर से आयोजित इस गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुये श्री क्षितीश वेदालंकार ने कुछ नये प्रमाण प्रस्तुत करते हुये इस धारणा को मिथ्या सिद्ध किया कि नाना साहब पेशवा सन् ५७ की राज्यक्रान्ति विफल हो जाने के पश्चात् नेपाल चले गये थे उन्होंने कहा कि नाना साहब पेशवा गुप्तरूप से भावनगर (सौराष्ट्र) के पास सिहौर नामक स्थान में साधु के रूप में रहे, और मौरवी में उनका स्वर्गवास हुआ, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है, नाना साहब पेशवा ने अपनी मृत्यु से पहले स्वयं यह रहस्य जिन लोगों के समक्ष उद्घाटित किया था उनमें से कुछ लोग अभी तक जीवित हैं और उन्हीं से इतिहास के इस नवीन पहलू पर प्रकाश पड़ा है **(द्रष्टव्य- ''दैनिक हिन्दुस्तान दिल्ली १२/८/६६ का पृ० कालम ३)**

''दयाराम (दयानन्द) ने साधु, संन्यासी, तपस्वियों के अन्दर संगठन के लिये कोशिश की थी, देश की बुरी हालत मिटाने के लिये साधुओं को तत्पर होने के लिये कोशिश की थी, उन्होंने सिपाही–विद्रोह आन्दोलन के साथ भी संयोग स्थापन किये थे, मराठी नेता नाना साहब भी महर्षि दयानन्द से विचार विमर्श करने के लिये आये थे– प्रधान–प्रधान सैन्यावास में भी आया जाया करते थे, बैराकपुर सैन्यावास (बंगाल) में भी आये थे, मंगल पाण्डे नामक सैन्य ने उनसे आशीर्वाद मांगा था, **(''देखिये- सार्वदेशिक साप्ताहिक दिल्ली के १२/१/६६ के अंक में कलकत्ता के श्री दीनबन्धु जी वेदशास्त्री का 'महर्षि की अज्ञात जीवनी' नामक लेख)।**

उपर्युक्त उद्धरणों में महान् लेखकों द्वारा दिये गये तर्क एवं प्रमाण अत्यन्त स्पष्ट तथा इतने सुदृढ़ हैं कि इन्होंने इतिहास के क्षेत्र में विचारने की नवीन दिशा प्रदान की है। यह एक बुद्धि ग्राह्य तथ्य है कि भारत के इस प्रथम विशाल स्वातन्त्र्य संग्राम के आयोजन एवं नेतृत्व में स्वामी पूर्णानन्द, विरजानन्द तथा दयानन्द इन तीनों साधुओं का गहरा हाथ रहा, चाहे वह सशस्त्र क्रान्ति युक्त न होकर केवल वचनमात्र ही रहा हो। भारत के ही कुछ देश द्रोही वर्गों द्वारा अंग्रेज शासकों का साथ देने पर जब यह स्वातन्त्र्य युद्ध विफल हो गया और इसी क्रान्ति–यज्ञ के आयोजकों एवं सहयोगियों को निर्दयतापूर्वक कुचलते हुये अंग्रेज यहाँ अपना प्रभुत्व जमाने लगे और उस समय इस राष्ट्र की निःसहाय प्रजा इन गौरांगों के अत्याचार की चक्की में पिसती हुई अपने गौरव को विस्मृत कर दीन–हीन हो रही थी, तब दयानन्द भी गुरु की पाठशाला से तैयार होकर भारत के कार्य–क्षेत्र में आ चुका था, तब उसने अपनी लोह लेखनी द्वारा भारत की प्रसुप्त आत्मा को जगाने का उपक्रम किया। उसकी ओजस्वी वाणी एवं बलिष्ठ लेखनी मुर्दों की धमनियों में मदमदाते रक्त का संचार कर देती थी। भारत जनमन में उस काल के पश्चात् जो कुछ भी राजनैतिक चेतना आई वह ऋषि दयानन्द की लेखनी तथा वाणी का ही प्रभाव था, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए इतिहासकार लिखता है–

''दयानन्द का जन्म मौरवी रियासत के टंकारा नामक गाँव में समृद्ध ब्राह्मण गृहपति करसन जी के यहाँ सन् १८२४ ई० में हुआ था, यों भारत की स्वाधीनता के लिये मर मिटने और फिर से राष्ट्रीयता जगाने वाले ये दोनों महापुरुष समसामयिक और समवयस्क भी थे, इनमें से जब एक (नाना धोंधोंपन्त राव पेशवा) शस्त्र का आश्रय लेकर राष्ट्र की स्वाधीनता की ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिये अपना सर्वस्व होमकर भी असफल रहा, तब दूसरे (दयानन्द) ने उसके स्फुलिंगों को एक प्रकार से फिर से जगाने की विधि निकालने के लिये शास्त्र का आश्रय ग्रहण किया। **(हमारा राजस्थान पृ० २६६)**

''१८७३ से १८८१ तक दयानन्द उत्तर भारत के अनेक नगरों में घूमता और अपने विचारों का प्रचार करता रहा, जिसके कारण भातवासियों में अपने प्राचीन इतिहास और धर्म का गौरव फिर से जागने लगा। १८७३ ई० से भारत में राजनीतिक पुनर्जागरण के लक्षण भी प्रायः सर्वत्र प्रकट होने लगे'' **(हमारा राजस्थान पृ० २७०)** इसी ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि करता हुआ एक और इतिहासकार लिखता है :–

''सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् के उन महापुरुषों की सूची में जिन्हें हम उस क्रान्ति के मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकारी कह सकते हैं पहला नाम महर्षि दयानन्द सरस्वती का है।''

(''भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास पृ० २२ ले० पं इन्द्र विद्यावाचस्पति)।

'राजनीति में स्वामी दयानन्द को नवीन राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहें तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा और स्वदेश के पक्ष में जो स्पष्ट विचार प्रकट किये थे, वह भारत की राजनीति में १९०१ से पहले व्यक्त रूप में नहीं आये थे, व्यावहारिक रूप में उनका प्रयोग तो बंगविच्छेद के पश्चात् ही हुआ।'' **(भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास पृ० २४)**

एक अन्य महान् लेखक के कथन से भी इस सत्य की पुष्टि हो रही है:–

''इस देश में अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने के बाद वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने देशवासियों के हृदय में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के दीपक को बुझते–बुझते बचाया। **(राष्ट्रवादी दयानन्द पृ० ३२ -श्री सत्यदेव विद्यालंकार)**

महर्षि दयानन्द के जिन असाधरण विचारों से भारत (लेखन द्वारा जागरण) के राजनीतिक वातावरण में अपूर्व हलचल उत्पन्न हुई अब उनमें से स्थाली पुलाक न्याय से कुछ स्थल उपस्थित किये जा रहे हैं।

''कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। **(सत्यार्थप्रकाश ८ समुल्लास)** इसी प्रकार आगे चलकर भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए दुःखित हृदय से ऋषिवर लिखते हैं :– विदेशियों के आर्यावर्त में राजा होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना, पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयम्बर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचारादि कर्म हैं, जब आपस में भाई–भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। **सत्यार्थप्रकाश समु० १०।**

आगे महर्षि १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का आँखों देखा दुःखद प्रसंग वर्ण करते हुये लिखते हैं :–

''जब सम्वत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहां गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी, जो श्री कृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते **(सत्यार्थप्रकाश समु० ११)** ब्राह्य समाजियों की समालोचना के प्रसंग में अंग्रेजों से भारतीयों को शिक्षा देते हुये कहते हैं:–

''देखो? अपने देश के बने हुये जूतों को ऑफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं, इतने में ही समझ लो कि अपने देश के बने हुये जूतों का भी कितना–मान–प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। **(सत्यार्थप्रकाश समु० ११)**

पाठक ! सोचें कि ऋषि दयानन्द का स्वाभिमानी हृदय अपने देश के जूते के अपमान को भी न सह सका, सोचिये क्या वह भारत की दासता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिये सदा अधीर न रहता होगा? इसी प्रसंग में आगे चलकर महर्षि ब्राह्म समाजियों की अंग्रेज भक्ति की अधिकता तथा राष्ट्र प्रेम की न्यूनता पर फटकारते हुए कठोर शब्दों में भर्त्सना करते और लिखते हैं :–

''इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं, अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले भरपेट निन्दा करते हैं, व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं ब्रादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते, ब्रह्मा से लेकर आर्यावर्त में बहुत से विद्वान् हो गये हैं, उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन की ही स्तुति में उतर पड़ना पक्षपात और खुशामद के बिना क्या कहा जाये?'' **(सत्यार्थप्रकाश समु० ११)**

सोचिये उस समय ऐसे स्पष्ट शब्दों में विदेशी राज्य की समालोचना करना उस साहस के पुतले भारत माता के सच्चे सपूत दयानन्द के अतिरिक्त और किसका काम था? उस ऋषि ने ही सर्वप्रथम उस काल में सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य के रूप में आर्यों के प्राचीन गौरव का वर्णन कर भारतीयों के हृदयों को स्वतन्त्रता की ओर उभारा था सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में आर्य राजाओं की नामावली देकर आर्यों को अपने विश्व–विख्यात गौरव की झलक दिखाई थी। महर्षि अपने वेदभाष्य में लिखते हैं :–

''क्षत्राय पिन्वस्व' हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तमगुण युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर, अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। यजु० ३८/१४

ऋषि दयानन्द ने अपने देश के लिये अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना करते हुये जो आदेश दिया वह निम्न प्रकार से हैः ''मनुष्यैर्द्वाभ्याम् प्रयोजनाभ्यां प्रवर्तितव्यम् एकमत्यन्तपुरुषार्थ शरीरारोग्याभ्यां, चक्रवर्ती राज्य श्री प्राप्ति करणम्, द्वितीयं सर्वा विद्या : सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारी करणम्'' इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने सामने सदा दो प्रयोजन रखकर उनकी पूर्ति के लिये अपना सब व्यवहार करना चाहिये, पहला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके

शेष पृष्ठ 11 पर

और शरीर को स्वस्थ रखकर वह चक्रवर्ती राज्य रूपी श्री का सम्पादन करे, और दूसरा यह कि वह सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़कर सब जगह उनका प्रचार करे।

इसी प्रकार स्तुति प्रार्थनोपासना की पुस्तक आर्याभिविनय में भी महर्षि परमेश्वर से प्रार्थना करते हुये कहते हैं :– ''हे ? न्यायकारिन्? जो कोई हम धार्मिकों से शत्रुता करता है, उसको आप भस्मीभूत करें, और विद्या शौर्य, धैर्य, बल पराक्रम, चातुर्य, विविध धन, ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति तथा स्वदेश सुखसम्पादन आदि गुणों से युक्त करके हमको सब देहधारियों में उत्तम बनायें और सबसे अधिक आनन्दभोग करने, सब देशों में इच्छानुकूल विचरने, और आरोग्य,, (देह, शुद्ध मानसबल, तथा विज्ञान आदि प्राप्ति के लिये हमको सब विद्वानों के मध्य प्रतिष्ठायुक्त करें। आर्याभिविनय १/१६)

''हे महाधनेश्वर ! हमारे शत्रुओं के बल पराक्रम को (आप) सर्वथा नष्ट करें, आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि प्राप्ति हो।'' १–४३

इस प्रकार इस पुस्तक में स्थान स्थान पर परमात्मा की प्रार्थना राजा, साम्राज्य प्रसारक, राज्य विधायक, सम्राट् तथा महाराजाधिराजेश्वर आदि उत्कृष्ट राष्ट्रीय सम्बोधनों से की गई है, यही कारण है कि आर्याभिविनय को वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थनाओं की पुस्तकों में बहुत ऊँचा स्थान मिल गया है। प्राचीन भारतीय–संस्कृति का वह गौरव जिसके कारण भारत विश्व का पथ–प्रदर्शन एवं नेतृत्व करता था उसी विस्मृत गौरव को महर्षि जनता के हृदय में जागृत करना चाहते थे, वे अपने देश को दासत्व की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ क्षण भर भी देखना पसन्द न करते थे।

उस समय महर्षि ने अंग्रेजी राज्य का सहयोग न देने पर भी बल देकर असहयोग आंदोलन का बीज बोया था–जबकि अपनी मृत्यु से पूर्व परोपकारिणी सभा के स्वीकारनामें में महर्षि ने यह लिखा– जहाँ तक हो सके न्याय प्राप्ति के लिए सरकारी अदालत का दरवाजा न खटखटाया जाये। प्रश्न यह होता है कि–

महर्षि ने अंग्रेजी अदालतों पर अविश्वास क्यों किया? उन्हीं के शब्दों में सुनिये :–

''अनुमान होता है इसीलिए ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर छोड़ देते हैं। ''सत्यार्थप्रकाश १३/७७ परन्तु अपने आरम्भिक काल में कांग्रेस के सभी नेता अंग्रेजी न्यायालयों की न्यायप्रियता का ढिंढ़ोरा पीटते नहीं थकते थे। यहां तक कि लोकमान्य तिलक जैसे प्रखर राष्ट्रभक्त भी किसी अंश में उन्हीं से सहमत थे। जब लोकमान्य तिलक ने सन् १६१६ तथा २० में मि० शिरोल पर एक पुस्तक में अपने प्रति लिखे गए अपमानजनक शब्दों के आधार पर मानहानि का अभियोग इंग्लैण्ड में चलाया तब मि० शिरोल को दोषी होते हुये भी साफ बचा दिया गया था। तब उन राजनैतिकों ने आश्चर्य भरी नजरों से अंग्रेजी अदालतों के जातीय पक्षपात को देखा और तब उनके प्रति अपने अविश्वास को व्यक्त करना आरम्भ किया। परन्तु महर्षि ने उसे ४० वर्ष पूर्व ही प्रकट कर दिया था।

अंग्रेज शासकों की इसी पक्षपात पूर्ण रीति–नीति पर रोदन करते हुये महर्षि दयानन्द अपने साहित्य में परमेश्वर से प्रार्थना करते हुये लिखते हैं– हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हैं। हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे। (सत्यार्थप्रकाश ६ समु०)

उस समय अंग्रेजी सरकार की ओर से भारतीय जनता पर कठोर प्रतिबंध लगे हुये थे। महर्षि ने १८७५ ई० के सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में उनकी कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हुये लिखा:–

''एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है मुझको अच्छा मालूम नहीं होता क्योंकि नोन बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं किन्तु सबको नोन आवश्यक होता है और वे मेहनत मजदूरी से जैसे तैसे निर्वाह करते हैं उनके ऊपर भी यह नोन का (कर) दण्ड तुल्य रहता है। इससे दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है। अतः कर (टैक्स) लवणादिकों के ऊपर न चाहिये। पौन रोटी से भी गरीबों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले जाये वा लकड़ी का भार (तो) उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से उनको अवश्य क्लेश होता होगा, इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना है सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं।'' **(सत्यार्थप्रकाश ३८४/८५)**

''सरकार कागद को बेचती है और बहुत सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है, इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है, सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से बहुत गरीब लोग दुःख पाके बैठे रहते हैं, कचहरी में बिना धन के कुछ बात होती नहीं, इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगाया है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता।'' **(सत्यार्थप्रकाश पृ० ३८७)**

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी ने जिस नमक कानून के विरुद्धप सन् १६३० में सत्याग्रह द्वारा आवाज उठाई थी, महर्षि दयानन्द ने अपने उक्त लेख के द्वारा इस विषय में उनसे ५५ वर्ष पहले ही अंग्रेज सरकार को दुत्कारा था।

इसके साथ–साथ यह एक विचारणीय विषय है कि महर्षि ने अपने जीवन काल में जो आर्य समाजें स्थापित की थीं वे सभी ऐसे स्थान थे जो उस समय अंग्रेज सरकार की सेना के मुख्य आवास स्थल थे। उदाहरणार्थ बम्बई, मेरठ, सहारनपुर, लाहौर इत्यादि। तो क्या एक सत्यान्वेषी इतिहासकार के लिये यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि क्रान्ति का यह बीज यदि अंग्रेजी सेना में प्रविष्ट उन भावुक हृदय भारतीय सिपाहियों के निकट डाला जाये तो वह शीघ्र ही उगकर मनोवांछित फल लाने में उपयुक्त सिद्ध होगा?

इसी के साथ महर्षि दयानन्द का गौ रक्षा का नारा बुलन्द करना भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसी प्रश्न को प्रमुखता देकर १८५७ के काल में मंगल पाण्डे, तांत्या टोपे, नाना साहब पेशवा, रानी लक्ष्मी, वीर कुंवर सिंह इत्यादि के द्वारा अंग्रेज की छाती पर दागी गई गोलियों की सनसनाहट अभी विलीन भी न होने पाई थी कि सिक्खों के एक सम्प्रदाय नामधारियों के गुरु बाबा रामसिंह जी के नेतृत्व में लगभग दो सौ कूका वीरों ने गौ रक्षा के प्रश्न पर अंग्रेज सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, फलस्वरूप उन्हें फांसी, कालेपानी तथा तोप के मुँह से बांध कर उड़ाने का दण्ड दिया गया और इस प्रकार गौ रक्षा का नारा अंग्रेज सरकार के विद्रोह का पर्याय बन गया था। ऐसे भयंकर समय में ऋषि दयानन्द ने न केवल गौ रक्षा के हक में आवाज उठाई बल्कि गौ हत्या का सारा उत्तरदायित्व उस विदेशी सरकार पर डालकर उसे रुकवाने के लिये हस्ताक्षर का अभियान शुरू करके देश की जनता में संगठन एवं जागृति का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। किम्वदन्ति तो यहां तक है कि उस काल में जब एक अंग्रेज अधिकारी कार्यनिवृत्त होकर इंग्लैण्ड जाने लगा, तब उसकी विदाई सभा में महर्षि ने बोलते हुये कहा था कि तुम वहाँ जाकर महारानी से भारत गौ रक्षा का कानून बनवाने का प्रयत्न करना, अर्थात् इस प्रश्न को लेकर भारत में फिर क्रान्ति हो सकती है जिसका सारा उत्तरदायित्व सरकार पर ही होगा, किन्तु उस समय महर्षि दयानन्द की इस आवाज़ ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के क्षेत्र में एक नई दिशा तथा जोशपूर्ण वातावरण का निर्माण किया था, इस तथ्य से कोई निष्पक्ष इतिहासकार इन्कार नहीं कर सकता। महर्षि के हृदय में राष्ट्रीयता, वैदिक संस्कृति तथा स्वदेशाभिमान की जड़ें इतनी गहरी थीं कि उन्होंने कभी भी भारत में अंग्रेजी राज्य को ईश्वर की देन मानकर उसकी प्रशंसा के गीत नहीं गाये, जबकि कांग्रेस के मंच से अनेक नेता और मदनमोहन मालवीय भी अंग्रेजी राज्य को ईश्वरीय देन मानकर उसके यावच्चन्द्र दिवाकरौ बने रहने की सदभिलाषा प्रकट करते रहे। महर्षि ने उस रूप में विदेशी राज्य के सहारे कोई योजना पूर्ण करने की आतुरता नहीं दिखाई जिस प्रबलरूप में राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सरीखों ने अपने सुधारकार्य का प्रमुख आश्रय सरकारी कानूनों को बनाया। अपने समय के राष्ट्रगुरु लोकमान्य जी भी वैदिक साहित्य और उसकी प्राचीनता के समबन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के रंग में रंगे हुये थे। **'गीता रहस्य'** सर्वथा मौलिक होते हुये भी पाश्चात्य विचारों से सर्वथा मुक्त नहीं है। जब कांग्रेस में पाश्चात्य वेशभूषा अपनाने की होड़ सी लगी हुई थी तब कांग्रेस के जन्म से भी पूर्व महर्षि दयानन्द स्वदेशी वस्त्रों का ही प्रयोग करते थे, स्वामी जी के जो वस्त्र आज तक संभालकर अजमेर में रखे हुये हैं, वे सब विशुद्ध स्वदेशी खादी के ही हैं।

अतः महर्षि दयानन्द ने उस राष्ट्रीयता को जो कि स्वातन्त्र्य संग्राम की विफलता पर अंग्रेजों के अत्याचार एवं दमन से रौंदी जाती हुई भारत की निःसहाय प्रजा द्वारा, शासन के पाशविक आतंक से जुबां पर नहीं लाई जा सकती थी, अपने साहसिक तथा विशुद्ध राष्ट्रीय विचारों के प्रचार से जागृत एवं अभिव्यक्त करने का अद्भुत प्रयास किया। उसी के परिणामस्वरूप तब से जनता में राष्ट्रीयता का श्वास तीव्ररूप में चलने लगा था। जनता ने समझा कि अब हमारा भी अपने देश में उत्पन्न कोई मार्गदर्शक तथा सुध लेने वाला आ पहुँचा है। भारतीय जनता में उठती हुई इस राजनीतिक चेतना को कुटिलमति अंग्रेज सहन न कर सके। उसी के परिणामस्वरूप महर्षि दयानन्द को ब्रिटिश साम्राज्य की कूटनीति का शिकार होकर राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने जीवन की भेंट चढ़ानी पड़ी, सो कैसे यह एक प्रत्यक्षदर्शी के शब्दों में ही सुनिये –

महर्षि के मृत्यु का रहस्य

श्री डी०पी० जौहरी गर्मी के दिनों में जोधपुर गये, वे पानी की तलाश में एक तालाब के किनारे पहुँचे, और वहां उन्होंने ७० वर्ष के एक वृद्ध आर्यसमाजी को संध्या करते देखा जब उन्होंने संध्या समाप्त की तो श्री जौहरी ने उनसे स्वामी की मृत्यु के सम्बन्ध में बातचीत आरम्भ की जौहरी जी के प्रश्न का उत्तर देने से पहले वृद्ध महाशय ने उनसे यह शपथ ले ली कि उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जायेगा यह शपथ लेकर जो कहानी वृद्ध महाशय ने जौहरी जी को सुनाई उसका संक्षेप यह है कि जिन दिनों महर्षि जोधपुर में थे, अंग्रेजी सरकार की ओर से रियासत के एक अत्यन्त आवश्यक अन्तरंग विषय पर चिट्ठी प्राप्त हुई जिसका उत्तर शीघ्र मांगा गया था रियासत की कौंसिल अभी उस पर विचार कर ही रही थी कि महाराजा ने उस चिटठी की चर्चा महर्षि से कर दी। महर्षि ने जो सलाह दी महाराजा ने उसके अनुसार ही उत्तर भेजा। उत्तर ऐसा चतुरतापूर्ण था कि उससे इण्डिया ऑफिस चकित हो उठा। वहाँ से रेजिडेण्ट को लिखा गया कि जिस दरबार में इस पत्र पर चर्चा हुई उसकी तस्वीर भेजी जाये, जिससे पता लग सके यह उत्तर किसके दिमाग की उपज है। उस चित्र से भी जब इण्डिया ऑफिस की जिज्ञासा शान्त न हुई तो महाराज से सीधा पूछा गया, और महाराज ने सरलता से स्वामी जी का नाम लिख भेजा। विलायत से जनरल को यह भर्त्सना की गई कि स्वामी दयानन्द जैसे राजद्रोही को प्रचार करने के लिये खुला क्यों छोड़ा गया? यह वृत्तान्त सुनाकर वृद्ध महाशय ने कहा कि इस घटना की रोशनी में यह समझना कठिन नहीं कि स्वामी जी को विष दिलाने वाले कौन थे? और सरकारी डाक्टरों ने उनका ठीक इलाज क्यों नहीं किया? **(आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग पृ० ३२१/२२ ले० श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति)।**

महर्षि को विष देने के षडयंत्र में कौन–कौन सी शक्तियाँ सम्मिलित थीं इस प्रश्न का उत्तर देने में भी बहुत कुछ कल्पना से काम लेना पड़ेगा। दोनों ही बातें सत्य हैं। नन्हीं जान वेश्या स्वामी जी से रुष्ट हो गई थी, इसमें कोई संदेह नहीं और यह भी असंदिग्ध है कि अंग्रेजी सरकार राजस्थान में स्वामी जी के बढ़ते हुये प्रभाव से बहुत ही असन्तुष्ट थी। यह सर्वथा सम्भव है कि उस समय दोनों विरोधी शक्तियाँ मिल गई हों? सरकारी डाक्टरों द्वारा महर्षि के रोग की उपेक्षा केवल नन्हीं जान की प्रेरणा से नहीं हो सकती थी। यह सन्देह निर्मूल नहीं प्रतीत होता कि महर्षि की मृत्यु के पीछे केवल एक वेश्या का हाथ नहीं–कोई जबरदस्त हाथ था जो पर्दे के पीछे से इशारा दे रहा था।''

(आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग पृ० ३२३/२४ -पं इन्द्र विद्यावाचस्पति।)

पूर्व उद्धरणों पर गम्भीर विवेचन करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचना कठिन एवं निःसार नहीं है कि अपने समय का ख्यातनामा सुधारक जिससे कि विदेशी भी अपरिचित न हों वह सबके देखते देखते एक सामान्य वेश्या के द्वारा विष दिलाकर मारा जाये और जबकि वह उस राजा का राजकीय अतिथि होने के साथ–साथ गुरु भी हो, जिसकी नागरिक वह वेश्या थी, और इसके साथ ही वह राजा महर्षि को बचाने में प्राणपण से प्रयत्नशील हो, यह सब कुछ गोरख धन्धा किसी सामान्य षड्यन्त्र का परिणाम नहीं है। जब तक महर्षि का उपचार प्राइवेट डाक्टरों द्वारा होता रहा तब तक उनकी दशा सुधरती गई, परन्तु, जब सरकारी डाक्टर अली मर्दान खां का इलाज प्रारम्भ हुआ तभी से महर्षि की दशा बिगड़ती गई और अन्त में वे मृत्यु का ग्रास बन गये, क्योंकि उस डाक्टर की पीठ पर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का हाथ था। इसके साथ डाक्टर महोदय स्वयं मुसलमान होने के कारण मन ही मन महर्षि से खीझे हुये थे, क्योंकि महर्षि ने ही सर्वप्रथम कुरान के थोथे सिद्धान्तों पर तर्कपूर्ण कठोर समालोचना का कुठाराघात किया था।

अतः सरकार का आशीर्वाद प्राप्त कर उस धर्मांध यवन डाक्टर ने महर्षि को ६० ग्रेन के विशाल परिमाण में वह तीव्र विष जिसका कि बलिष्ठ मनुष्य की मृत्यु के लिये १० ग्रेन का परिमाण पर्याप्त होता है। आज यदि वैसा ही प्रभावशाली व्यक्ति वैसी ही संदिग्ध परिस्थितियों में मृत्यु का शिकार हो जाये तो बुद्धिमान् तथा मानवताप्रेमी सरकार कम से कम जनता की दृष्टि में अपनी स्थिति के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से ही क्यों न हो परन्तु उस विषय की अवश्यमेव छानबीन करना अपना नैतिक कर्तव्य समझेगी। परन्तु ऋषि दयानन्द जैसे जगद्विख्यात सुधारक की विषदान से मृत्यु हो जाती है, विषदाता का भी पता लग जाता है, परन्तु अंग्रेजी सरकार की ओर से इस दुखद काण्ड के आयोजाकों की खोज अथवा उन्हें दण्ड प्रदान का नाममात्र भी प्रयत्न नहीं किया जाता, यह था अंग्रेजी सरकार के न्याय का नमूना? तो क्या सरकार की यह चुप्पी बुद्धिमानों की दृष्टि में इस काण्ड में उसके हिस्सेदार होने की घोषणा नहीं कर रही? यहाँ तक ही नहीं प्रत्युत् वह राजा जो महर्षि का प्रिय शिष्य था, जिसके निमन्त्रण पर महर्षि जोधपुर पधारे थे इस अनर्थकारी एवं संदिग्ध प्रसंग की आलोचना करने में एक शब्द भी मुँह से निकालने तक की हिम्मत नहीं कर पाता। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उस राजा को यह भलीभाँति निश्चय हो चुका था कि सारा का सारा नाटक अंग्रेज सरकार की ओर से खेला जा रहा, नन्हीं जान का तो केवल मात्र एक बहाना था अथवा अपने इस कुकृत्य को छिपाने का साधन घड़ा जा रहा था क्योंकि राजा को यह भय था कि यदि तुमने (जोधपुर नरेश ने) इस विषय में कोई न्यायपूर्ण कदम उठाने का दुःसाहस किया तो अंग्रेजों की कूटनीति के शिकार होने से किसी भी दशा में बच न पाओगे।

इस सम्पूर्ण विवेचन का तत्त्व यह निकला कि ब्रिटिश राज्य ने ही किसी को अपनी कठपुतली बनाकर विषदान के द्वारा महर्षि दयानन्द के प्राणों का हरण कर अपना राजनीतिक मार्ग निष्कण्टक बनाया था। महर्षि के बलिदान से बहुत समय पूर्व ही एक फकीर के नेतृत्व में बंगाल प्रान्त में चौदह हजार साधुओ ने अंग्रेजी सेना को अपने चिमटों तथा त्रिशूलों के बल पर एक कड़ी पराजय दी थी। साधु का वह भयंकर राष्ट्रवादी स्वरूप भी अंग्रेजों की आँखों के आगे सदैव तैरता ही रहता था। इस कारण भी अंग्रेजी सरकार प्रत्येक भारतीय साधु को सशंक नेत्रों से ही देखती थी तथा उन्हें यथासम्भव प्रत्येक उपाय से दबाने का प्रयत्न करती थी।

इतिहास के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् स्व० श्री पं० भगवद्दत्त जी बी०ए० रिसर्चस्कालर ने इस सम्बन्ध में जो खोज की, वह उन्होंने लेखक को स्वयं बताई थी, जो इस प्रकार है–

१. पं० भागराम जी अजमेर निवासी ने जो कि अंग्रेजी सरकार की ओर से महर्षि के ऊपर विशेष गुप्तचर छोड़े गये थे, बताया कि लन्दन के इण्डिया ऑफिस में महर्षि के समकालीन गवर्नरों के पत्रव्यवहारों के जो रिकार्ड सुरक्षित हैं, यदि वे खोज कर पढ़े जायें तो महर्षि की मृत्यु सम्बन्धी घटना की यथार्थता सामने आ सकती है।

२. श्री फिरोजचन्द्र जी एम०ए० ने जो वर्तमान कंग्रेस सरकार की ओर से भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास लिख रहे हैं, बताया कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रसंग में महर्षि दयानन्द का स्थान–स्थान पर अत्यधिक ही वर्णन उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण तर्कवितर्क पर ठण्डे एवं निष्पक्ष मस्तिष्क से विचारने के पश्चात् हमारे विज्ञ पाठक निश्चय ही इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि महर्षि ने १८५७ के पश्चात् भारत के नागरिकों के प्रसुप्त अन्तःकरणों में जो अपूर्व राजनीतिक जागृति उत्पन्न की, उनसे यहाँ राष्ट्र प्रेम दिन दूना और रात चौगुना बढ़ना शुरू हुआ। इस निरन्तर बढ़ती हुई चेतना के भय से उस समय के अंग्रेजी राज्य ने एक भयंकर तथा कुटिल षड्यन्त्र रचकर इन उठती हुई राजनीतिक ज्वालाओं को बुझाने का एक अत्यन्त ही दूरदर्शितापूर्ण किन्तु जघन्य कार्य किया जो कि महर्षि की मृत्यु के रूप में था, उनका कुकृत्य इतिहास में सदा के लिये तथाकथित न्यायाप्रिय अंग्रेज जाति के माथे पर अमिट कलंक के रूप में विद्यमान रहेगा।

●

1857 की क्रान्ति में यह 'साधु' कौन था?

—आचार्य दीपंकर, सुप्रसिद्ध साम्यवादी चिंतक एवं लेखक

जो भी कोई भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के सम्बंध में कुछ जानकारी रखता है, वह इतना अवश्य जानता है कि इसका श्रीगणेश १८५७ में हुआ था। प्रत्येक देशवासी यह भी जानता है कि जनक्रान्ति से सूत्रधार मंगल पाण्डे, नाना, झांसी की रानी, तांत्या टोपे तथा मराठा नरेश जसवन्त राव होल्कर एवं बहादुर शाह जफर दिल्ली सम्राट् थे। इनमें सर्वाधिक नीति निपुण तथा प्रभावशाली संगठनकर्ता अजीमुल्ला के नाम से सब परिचित हैं। इनके सम्बंध में इतिहासकारों ने अध्यायों पर अध्याय लिखे हैं तथा सैंकड़ों पुस्तकें एवं लेखमालाएँ उपलब्ध हैं। ये सभी लोग हमारे लिए प्रातः स्मरणीय हैं। इनके आत्मत्याग तथा बलिदानों ने दो सौ वर्षों तक स्वतन्त्रता सेनानियों को प्रेरणा दी है। इनके नाम और काम भविष्य में भी लोगों को प्रभावित करते रहेंगे। आने वाले लेखक भी इनका जितना अधिक गुणगान करेंगे, कम ही होगा।

परन्तु वह 'साधु' या संन्यासी कौन था जिसका उल्लेख उस समय के सरकारी अभिलेखों तथा पत्रावलियों में बार–बार मिलता है। यह भी कहा गया है कि जिस समय मंगल पाण्डे के साथ बैरकपुर में हमारे शत्रु अत्याचार ढा रहे थे, उस समय एक भी सिपाही उसके पक्ष में मैदान में नहीं उतरा जब कि सभी लोग उसके राजनीतिक उद्देश्यों से सहमत थे। फिर भी यदि वे मूकदर्शक बने रहे तो इसका मूल कारण उनकी कायरता नहीं थी। वे यह सोच कर मौन साधे रहे कि क्रान्ति की तिथि पहले से ही ३१ मई १८५७ घोषित है। वे यह सोच कर मौन रह गये कि इससे पहले हथियार उठा लेने का अर्थ क्रान्ति को विफल कर देना होगा। परन्तु ऐसी ही परिस्थितियां जब मेरठ में उपस्थित हुईं तो ३१ मई का नाम लेकर सिपाही और जनता हाथ पर हाथ रख कर बैठे नहीं रहे। यह किसकी प्रेरणा और सलाह थी जिसने उन्हें तत्काल हथियार उठाने की सलाह दी। सरकारी विवरण यह दर्शाते हैं कि एक संन्यासी हर समय बैरकों का चक्कर काटता रहता था, सिपाहियों को भड़काता था और जब उसे काली पल्टन से दूर भगा दिया गया तो वह थोड़े फासले पर खड़ा होकर उत्तेजनात्मक भाषण देता रहा। सरकारी विवरणों से यह भी प्रकट होता है कि उसका सैनिकों पर बड़ा व्यापक प्रभाव था। इसके अलावा, यह बताया गया है कि उस साधु का मेरठ के साधारण नागरिकों तथा ग्रामवासियों पर भी बड़ा प्रभाव था। इसके अलावा, सैंकड़ों की संख्या में साधु उसके सम्पर्क में थे तथा वे गांव–गांव में फैले हुए थे। उस समय ये लोग धर्म प्रचार का काम करते थे। धर्म की रक्षा और fÂस्तानों से धर्म व देश की रक्षा करने के काम में अधिक रुचि लेते थे।

जिस तरह मेरठ का इतिहास समझे बिना और उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन न करके जिनके मध्य से मेरठ के लोग गुजर रहे थे, भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का सही–सही मूल्यांकन कर पाना कठिन है उसी प्रकार, इस साधु की वास्तविकता समझे बिना मेरठ की जनक्रान्ति की सही–सही समीक्षा करना उचित नहीं है।

यह साधु निश्चय ही रहस्यपूर्ण है तथा असाधारण व्यक्तित्व का है। वह सैनिकों को इतनी गहराइयों में जाकर प्रभावित कर सकता था कि वे ३१ मई को जो कार्य होना चाहिए था उसे १० मई में ही करने पर उद्यत हो गये। बाद के इतिहास ने यह भी सत्य प्रमाणित कर दिया है कि १० मई को जनक्रान्ति न हो पाती और मेरठ वाले भी बैरकपुर वालों की भांति मूकदर्शक बने रह जाते तो जनक्रान्ति का असामयिक गर्भपात सुनिश्चित था। ३१ मई तक तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती कि सभी सैनिकों के हथियार रखवा लिये जाते और सारी योजनाएँ शेखचिल्ली की कल्पनाएँ बन कर रह जातीं।

अतः इस संन्यासी की ढूंढ़ तलाश करना प्रत्येक सेनानी का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है ताकि उसे हम मरणोपरान्त ही सही, क्रान्ति नेता के रूप में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें।

यहां काली पल्टन में आज भी बाबा औघड़नाथ का मन्दिर विद्यमान है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जैसे काशी के ऐतिहासिक शिव मन्दिर को आज भी लोग श्रद्धा एवं आत्मीयता के कारण बाबा विश्वनाथ का मन्दिर कह कर पुकारते हैं, उसी तरह यहां के शिव मन्दिर का नाम बाबा औघड़नाथ का मन्दिर पड़ गया हो। परन्तु एक संभावना दूसरी भी है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस संन्यासी ने स्वयं ही अपना छद्मनाम बाबा औघड़नाथ रख लिया हो और हजारों सैनिक जो प्रतिदिन उसके हाथों से शीतल जल पीते थे, उसे ही बाबा औघड़नाथ कह कर पुकारने लगे हों। इसमें तो कोई मतभेद हो ही नहीं सकता कि बाबा बहुत लोकप्रिय एवं प्रभावशाली संन्यासी था। इसकी ओर से इतिहासकारों का ध्यान हटाने के लिए संभव है यह मनघड़त कहानी अंग्रेजों ने ही प्रचारित की हो कि ६ मई को शाम के समय जब सैनिक सदर बाजार और बम्बई बाजार में सामान खरीदने आये तो दुकानदारों ने उन्हें तिरस्कार के साथ देखा तथा घरों से निकल–निकल कर महिलाओं ने सिपाहियों को अपनी चूड़ियां पहनाते हुए धिक्कारा कि उनके साथियों को जेल भेज दिया गया है तथा वे खड़े–खड़े तमाशा देखते रहे। स्त्रियों ने कहा कि 'वे चूड़ियां पहन कर घरों में बैठें तथा अपनी बन्दूकें उन्हें दे दें।' अंग्रेज इतिहासकारों ने इन कहानियों से मेरठ के स्वाधीनता संग्राम को आकस्मिक घटना मात्र सिद्ध करने के लिए ही इस प्रकार की घटनाएँ बहुप्रचारित की होंगी।

परन्तु यदि इन्हें सत्य भी मान लिया जाये तब भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि वह कौन नेता और संगठन था जिसने केवल आठ घंटा पहले (बैरकपुर कलकत्ता में) हुए कोर्ट मार्शल के फैसलों से पूरे महानगरों और जनपद में अति दूर–दूर तक जनता को अवगत करा दिया था। इसलिए कि कोर्ट मार्शल की कार्यवाही तो केवल छावनी तक सीमित थी। फिर कोर्ट मार्शल खुली अदालत की कर्यवाही के रूप में भी सम्पन्न नहीं हुआ था, तो इस प्रचार के पीछे अवश्य ही कोई अति तीव्रगामी या त्वरित गति का संगठन होना चाहिए।

अतः चाहे जिस दृष्टिकोण एवं बिन्दु से विचार किया जाये, उस संन्यासी की खोज करना तो हमारे लिए सबसे पहला काम हो जाता है, जिसके बिना भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की रणभेरी का बजना ही सर्वथा असंभव हो जाता।

वास्तविकता यह है कि क्रान्ति की परिस्थितियां परिपक्व हो चुकी थीं। उसमें एक दिन का भी विलम्ब करना आत्मघाती हो सकता था। परन्तु अजीमुल्ला, मुहम्मदशाह जफर, नाना फडनवीस, तांत्या टोपे और झांसी की रानी के सम्मिलित फैसले का 'उल्लंघन' करके ३१ मई के स्थान पर १० मई से ही क्रान्ति का बिगुल बजा देना संभव नहीं था। 'बाबा औघड़नाथ' ही ऐसे सर्वमान्य एवं परमादरणीय नेता थे जिनके संकेत पर १० मई को यह कार्य सम्भव हो सका। अन्यथा अन्यों की भांति मेरठ वाले भी ३१ मई की प्रतीक्षा करते करते पंगु एवं असमर्थ बना दिये जाते। कुछ लोग 'बाबा औघड़नाथ' का महत्व घटाने के लिए यह दावा भी करते हैं कि बाबा औघड़नाथ नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं। बाबा औघड़नाथ शिवजी का ही भोलेनाथ की तरह एक नाम है और काली पलटन में जो शिवमंदिर है उसी में एक अज्ञात बाबा लोगों को जल पिलाते समय अंग्रेजों के विरोध में प्रचार किया करते थे। ऐसा कहने वाले लोग भी इतिहास को झुठला देना चाहते हैं। तब उन्हे बाबा का नाम भी बताना चाहिए जो इतना व्यापक प्रभाव रखता था कि उसके संकेत मात्र से सेनाओं ने उन नेताओं का फैसला पलट दिया जो १८५७ की क्रान्ति के विश्व प्रसिद्ध नेता माने जाते थे। परन्तु इतिहास को झुठलाने वाले ये लोग ऐसे किसी बाबा का नाम बता सकने में असमर्थ हैं। उनकी दृष्टि में वह कोई साधारण सा 'प्याऊ' चलाने वाला साधु था।

अतः महान् क्रान्तिकारी और प्रथम स्वाधीनता संग्राम का सूत्रपात करने वाले बाबा औघड़नाथ का सही सही परिचय पाठकों के सम्मुख रखना मेरठ के स्वतन्त्रता सेनानियों का प्रथम कर्त्तव्य है। तभी हम बाबा औघड़नाथ को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

यह बताना तो आवश्यक नहीं है कि अप्रैल, मई और जून महीनों में कितनी गरमी मेरठ में पड़ती है और कितनी तेज लूवें चलती हैं। बाबा औघड़नाथ शाम के ५ बजे से लेकर रात के ८ बजे ६ बजे तक बड़े–बड़े मटकों में पानी भरा करते थे जिनमें ६० बाल्टी पानी आता था। वह रात भर में शीतल हो जाता था। और उसे दिन भर बाबा प्यासे सैनिकों को पिलाते रहते थे। जब कोई सैनिक इस पुनीत कार्य में उनका हाथ बंटाना चाहता था, तो वे डांट कर उसे भगा देते थे और समझाते थे कि 'यह कार्य केवल बाबा का है और उसे ही करने दो।'

हजारों सैनिक प्रतिदिन यह देखते थे कि बाबा पूरे तीन चार घण्टे तक उनके लिए पानी भरते हैं और पसीनों में नहा जाते हैं। परन्तु यह सोचना मूर्खता है कि बाबा 'सेवा समिति के आदमी' थे। नहीं, इसके पीछे उनका राजनीतिक उद्देश्य छिपा था जिसे केवल वही अकेले जानते थे। अगले दिन जो भी सैनिक पानी पीने आता उससे वह एक ही प्रश्न पूछते– 'बच्चा ! किस धर्म को मानते हो?' सैनिक यदि उत्तर देता कि 'बाबा ! मैं तो मुसलमान हूँ।' 'बहुत अच्छा, बच्चा! सभी धर्म अच्छे हैं। पर फिरंगियों ने किसी को भी मुसलमान, हिन्दू या सिख नहीं रहने दिया है। जो कारतूस तुम लोग मुख में रखकर खोलते हो उसमें सूअर और गाय की चर्बी रहती है। फिरंगी ने सबको धर्मभ्रष्ट कर दिया है।'

यह बात बाबा बहुत धीरे से कहते थे। परन्तु बात सभी बैरकों और सैनिकों तक पहुँच गयी थी। मेरठ उस समय देश की सबसे बड़ी छावनियों में था। यहां से सैनिकों के तबादले भी होते रहते थे। यहां से जो भी जाता अंग्रेजी राज के खिलाफ नफरत के बीज लेकर जाता।

मंगल पाण्डे बाबा के सबसे प्रिय शिष्यों या भक्तों में थे। जब अपनी टुकड़ी के साथ (मेरठ से) बैरकपुर में तबादला किया गया तो वह रात के अंधेरे में बाबा का आशीर्वाद लेने आया। बाबा भावुक हो उठे। उसका तबादला उन्हें पसन्द नहीं आया। परन्तु विदाई का आशीर्वाद देने के अलावा और कर भी क्या सकते थे। उन्होंने गद्गद आवाज़ में केवल इतना कहा– 'बच्चा! जहां भी रहो अपने धर्म और देश का ध्यान रखना।'

और संसार जानता है कि उनके चहेते मंगल पाण्डे ने बैरकपुर में जो कुछ भी किया उस पर 'बाबा' के संकेत पर दो दिन बाद ही मेरठ की पूरी छावनी में भयानक प्रतिक्रिया व्यक्त करके उस अमर बलिदानी के प्रति उचित श्रद्धांजलि अर्पित की गयी थी। अम्बाला छावनी ने भी इसमें सक्रिय योगदान करके अपना कर्त्तव्य निभाया था।

अब हम मूल समस्या की ओर लौटते हैं। १८५७ की क्रान्ति के समय 'बाबा औघड़नाथ' की आयु केवल ३३ वर्ष की थी। यह बाबा और कोई नहीं, स्वामी दयानन्द था जिनका बचपन का नाम मूलशंकर था। वह १८२४ में गुजरात के टंकारा (मौरवी) में जन्मे थे और यह संयोग ही है कि १८५७ की क्रान्ति में प्रमुख नेता घेघापन्त नाना साहब का जन्म भी १८२४ में ही हुआ था।

१८४६ से १८५४ तक वह भारत के विभिन्न अंचलों में घूमते रहे और इससे उन्हें विशेष लाभ यह हुआ कि पूरे भारत का एक मानिचत्र उनकी आंखों और मस्तिष्क में इतने सघन रूप से समा गया कि वे अपने ही शब्दों में 'काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक' एक अखण्ड भारत का चित्र देखने लगे। उनके समकालीन सभी समाज सुधारक केवल अपने क्षेत्रों तक सीमित थे। परन्तु आश्चर्य है कि वह आधुनिक युग के पहले भारतीय चिन्तक थे। जिन्होंने भारत की भाषा में ही सोचा और सम्पूर्ण भारत उनकी आंखों में समाया रहा। इसका दूसरा कोई उदाहरण नहीं हैं। आम तौर पर 'होनी' अपने आप आकर किसी के सिर पर जा चढ़ती हैं। परन्तु कभी–कभी वह किसी–किसी को अपने पास ही बुला लेती है। दयानन्द के साथ भी यही हुआ। भारत भ्रमण करते समय अपने १०८ वर्षीय स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती का नाम सुन रखा था जो अपने समय में सभी भारतीय विद्याओं में पारंगत समझे जाते थे। वह उनके पास विद्याध्ययन के उद्देश्य से हरिद्वार पहुँचे थे। परन्तु १८५४ तक अंग्रेजी राज के खिलाफ पूरे देश में अन्दर ही अन्दर आग सुलग रही थी। स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती एक समर्पित क्रान्किारी थे। उनके निर्देश में ५०० से अधिक संन्यासी पूरे देश और छावनियों में घूम–घूम कर अंग्रेजी राज के विरोध में असन्तोष को हवा दे रहे थे।

स्वामी सम्पूर्णानन्द ने अपने मन की एकाग्रता भंग होने से रोकने के लिए उनसे केवल इतना कहा कि 'वह बहुत वृद्ध हो गये हैं। पढ़ा सकने में असमर्थ हैं। फिर भी वे सलाह देंगे कि यदि पढ़ना ही है तो वह मथुरा जाकर स्वामी विरजानन्द के आश्रम में अध्ययन कर सकते हैं। वह स्वयं परम विद्वान् हैं और आश्रम में विद्वानों की अच्छी मण्डली एकत्रित कर रखी है।'

बात यद्यपि सच्ची थी ! परन्तु दयानन्द ने देखा कि १०८ वर्ष का संन्यासी सैंकड़ों साधुओं से प्रतिदिन बात करता है और उन्हें किसी न किसी गन्तव्य स्थान की ओर जाने की प्रेरणा देता है। फिर वह चाहे तो उसे पढ़ा क्यों नहीं सकता?

जो 'होनी' थी, वह तो सामने खड़ी थी। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि ये साधु विद्याध्ययन की उपेक्षा करके अंग्रेजी राज की जड़ें खोदने में लगे हैं। एक दिन प्रसंगवश स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती ने उससे कह भी दिया कि 'अंग्रेजी राज ने हमारा सभी कुछ मिटा दिया है। हम अपने अतीत से घृणा करने लगे हैं, वर्तमान में शून्य हैं और भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। अब तो अंग्रेजी राज के हटाने में ही भारत का वर्तमान और भविष्य सुरक्षित रह सकता है।

स्वामी जी की बातें सुनकर स्वामी दयानन्द के शरीर में बिजली सी कौंध गयी। उन्हें यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ कि स्वामी विरजानन्द भी इसी टोली के प्रमुख सदस्य होंगे। अतः विद्याध्ययन के लिए मथुर जाना भी अर्थहीन है।

इसके अलावा, उसे स्वयं भी यह अनुभव हुआ कि देश हित में कार्य करने से अधिक श्रेष्ठ कार्य दूसरा नहीं हो सकता। क्यों न वह भी विद्या में महामहोपाध्याय बनने की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए अपना जीवन अर्पित कर दे।

वह जन्मजात प्रखर बुद्धि का था। फिर अनुकूल परिस्थितियों ने उसकी सहायता की। और १८५७ की दूसरी बड़ी घटना ने उसे उस मार्ग पर धकेल दिया जिस पर कदम रखने के बाद उसने जीवन भर वापस मुड़कर नहीं देखा। १८५४ में अपनी आयु के ३० वर्ष में उसने भारतीय स्वाधीनता के सपने देखने प्रारम्भ कर दिये।

यह भी संयोग ही है कि १८५५ में नाना साहब भारत में पेशवा बने और गद्दी पर बैठते ही उन्होंने अजीमुल्ला के साथ मिलकर स्वाधीनता आन्दोलन की तिथि निश्चित करने के लिए तीर्थ यात्रा के बहाने भारत भ्रमण प्रारम्भ कर दिया। तीर्थयात्रा के प्रसंग में जब नाना साहब हरिद्वार में स्वामी सम्पूर्णानन्द के दर्शनों के लिए आये तो स्वामी दयानन्द से भी उनकी मुलाकात हुई। उनके वैभवपूर्ण व्यक्तित्व से नाना साहब बहुत प्रभावित हुए।

मेरठ में स्वामी जी ने करीब १५० साधुओं की ऐसी टोलियां संगठित की जो गांव–गांव और शहरों के गली मोहल्लों में घूम घूमकर 'धर्म' का उपदेश करते थे एवं 'धर्मद्रोही' के कुकृत्यों के विरुद्ध जनता में आक्रोश उत्पन्न करते थे। १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त जब उन्होंने राष्ट्रनिर्माण के लिए आर्यसमाज की स्थापना की थी, उसकी पूर्वकल्पना उन्होंने मेरठ में रहते समय १८५३ और ५४ में ही कर ली थी। मेरठ मण्डल के सभी जिलों तथा पूरे हरियाना

शेष पृष्ठ 13 पर

प्रदेश एवं पंजाब में आर्यसमाज की स्थापनायें आकस्मिक नहीं थीं। इन्हीं साधुओं के द्वारा उन्होंने प्रारम्भिक विचार जनता तक पहुँचाने प्रारम्भ कर दिये थे। बाद में १८५८–५६ में जब वे स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुर पहुँचे उस समय उनके विचारों में चमत्कारपूर्ण परिपक्वता और निखार देखने को मिलता है।

मेरठ में आर्य समाज की स्थापना यदि सबसे पहले चरण में हुई तो यह आश्चर्यजनक नहीं है और जब उन्होंने उदयपुर में २० फरवरी १८८३ में अर्थात् अपने निधन से कुछ ही महीने पहले अपनी पुस्तकों तथा सम्पत्ति की देखभाल के लिए एक ट्रस्ट (परोपकारिणी सभा) की स्थापना की तो राजाओं और महाराजाओं के तुरन्त बाद चौथे स्थान पर लाला रामशरणदास उपप्रधान आर्य समाज, मेरठ का नाम ट्रस्टियों में रखा था। और यह तो और भी सुखद आश्चर्य है कि लन्दन में संस्कृत के प्राध्यापक एवं प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा का नाम भी ट्रस्टियों में रखना वह नहीं भूलें। पाठक शायद यह नहीं जानते कि श्यामजी कृष्ण वर्मा भारत के सबसे पहले मार्क्सवादी हैं और वे स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी विचारों के भी सबसे पहले पक्षधरों में हैं।

उन्हीं के मौखिक आदेश पर कि यदि इनमे ंसे किसी की मृत्यु हो जाती है तो सभासद किसे मनोनीत करें स्पष्ट कर दिया गया था। उस सूची में प्रसिद्ध समाज सुधारक श्री हर विलास शारदा थे जिन्होंने बालविवाह प्रथा के विरोध में सबसे पहले आवाज उठायी थी और लाला लाजपत राय थे जिन्हें अत्यधिक आदर से देशवासी पंजाब केसरी कहकर पुकारते थे।

मेरठ में सैनिक क्रान्ति ही वास्तव में क्रान्ति थी। अन्य स्थानों पर भी जहां कहीं मेरठ की सैनिक टुकड़ियां क्रान्ति का आह्वान करने पहुँच गयीं, वहीं क्रान्ति सफल रही। इसके अलावा मेरठ मण्डल के पांचों जिलों में जिस प्रकार का जनसहयोग सैनिक क्रान्ति को मिला, अन्य केन्द्रों में क्यों नहीं मिला?

दूसरी बात यह है कि अन्य केन्द्रों में सैनिक प्रायः वेतन लेकर क्रान्ति के पक्ष में युद्धरत थे। नाना साहब, अजीमुल्ला या होल्कर अथवा झांसी की रानी अपने सैनिकों को थोड़ा बहुत वेतन अवश्य देती थी। इस वेतन की मात्रा पर कभी–कभी भारतीय सैनिक इधर से उधर भटक कर शत्रु पक्ष की ओर भी जा मिलते थे। परन्तु यह सुखद आश्चर्य ही माना जायेगा कि मेरठ के पूरे ६ हजार सैनिक न केवल वेतन न लेने वाले क्रान्ति योद्धा थे बल्कि जब बहादुरशाह जफर ने उनसे कहा कि 'मैं तुम्हारा नेतृत्व करना तो स्वीकार कर सकता हूँ, परन्तु तुम्हें वेतन देने के लिए मेरे कोषागार में पैसा ही नहीं है' उससे यह समझा जा सकता है कि दिल्ली का सम्राट् ऐसे सैनिकों की कल्पना करने तक में असमर्थ था जो वेतन लिये बिना देश के लिए मर मिटने को तैयार हों। परन्तु मेरठ के सैनिकों ने इसका बड़ा सटीक उत्तर दिया 'हम आपसे केवल नेतृत्व करने की मांग करते हैं, वेतन की नहीं। आपका कोषागार जो खाली पड़ा हुआ है उसे हम केवल १५ दिनों की छोटी–सी अवधि में अंग्रेजी कोषागार छीन–छीन कर भर देंगे और आपको सही अर्थों में दिल्ली का सम्राट् बना देंगे।'

प्रश्न यह उठता है कि चिन्तन में यह महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन मेरठ में ही कैसे संभव हुआ? यह इसलिए संभाव हुआ कि उनके पास क्रान्तिकारी विचारधारा थी। विचारधारा के अभाव में किया गया कोई कार्य कभी सफल नहीं होता और वह केवल गर्भपात के समान निरर्थक एवं पीड़ा जनक होता है।

क्रान्ति की विचाराधारा पर विचार करते समय हम पाठकों का ध्यान स्वामी दयानन्द अर्थात् बाबा औघड़नाथ के निम्न वाक्यों की ओर आकृष्ट करना चाहते है जो 'सत्यार्थप्रकाश' का वास्तविक साररूप है। वह कहते हैं–

जो मनुष्य परोपकार और देशोपकार करने में असमर्थ होता है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। और कोई व्यक्ति तब तक धार्मिक नहीं हो सकता जब तक देश सेवा करना अपना सर्वोच कर्तव्य न मानता हो।'

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'बाबा ओघड़नाथ' ने काफी लम्बे समय तक जो विचारधारा मेरठ के सैनिकों तथा मण्डल की सर्वसाधारण जनता को दी थी उसमें देश सेवा के मुकाबिले वेतन और व्यक्तिगत लाभ का प्रश्न महत्वहीन था।

थोड़े से उद्धरण सामने रख कर हम यह दिखाना चाहते हैं कि यह महान् संन्यासी जितना धार्मिक सांस्कृतिक क्रान्तिकारी था उससे कम राजनीतिक क्रान्तिकारी नहीं था। नीचे लिखे वाक्यों के वाक्याशों पर ध्यान देने की कृपा करें।

'विदेशी राज चाहे जितना अच्छा हो, परन्तु स्वदेशी राज सर्वोपरि एवं उत्तम होता है।

'विदेशियों का राज्य चाहे माता पिता के सामन कृपा–न्याय और दया की वर्षा करता हो, परन्तु वह स्वदेशी राज्य की भांति पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।'

'सृष्टि से लेकर महाभारत तक इस देश में चक्रवर्ती सम्राट् रहते थे। परन्तु आज उन्हीं की सन्तानें विदेशियों से पदाक्रान्त हैं।'

'देश के अधःपतन का मूल कारण देशवासियों की भूल है। यही कारण है कि अल्पसंख्यक (विदेशी) उन्हें अपने पांवों के नीचे रौंदते रहते हैं।''

'फूट और स्वार्थ के कारण ही कौरव, पाण्डव तथा यदुवंशियों का सर्वनाश हुआ और अभी तक भी यह रोग हमारा पिण्ड नहीं छोड़ रहा है।'

'जब भाई ही भाई को मारने लगता है तो सर्वनाश होने में क्या कमी रह जाती है।'

'अंग्रेजों और उनके सभ्यता के प्रभाव में रहने वाले भारतीय अपने पूर्वजों को तुच्छ एवं मूर्ख समझते हैं। वे यह मानने लगते हैं कि मानव सभ्यता का अरुणोदय अंग्रेजों के पदार्पण के बाद ही हुआ है।'

'कार्यालयों में अपने देश का बना जूता तो जाने देते हैं, परन्तु स्वदेशी जूते के प्रवेश पर रोक लगायी जाती है।'

'जयपुर में देखते ही देखते कितने गिरिजाघर बन गये है। वहां पादरी धड़ल्ले से वेदों, राम, कृष्ण और गौतमबुद्ध की निन्दा करते हैं तथा भारतीय कान लगा कर सुनते हैं।''

'एक युग था जब इस देश के व्यापारी और उद्योगपति भारतीय माल का पूरे संसार में व्यापार करते थे। इससे यह देश 'सोने की चिड़िया' कहलाता था। परन्तु अंग्रेजों ने हमारा व्यापार और उद्योग धन्धे सभी कुछ नष्ट कर दिये हैं। व्यापार और उद्योगों के बिना यह देश उन्नति कैसे कर सकेगा।'

'अपने पूर्वजों, ऋषि मुनियों का मजाक बनाना और ईसाइयों को धर्मावतार मानना इस देश के पतन का लक्षण है।'

'अन्याय करने वाले, अभिमानियों, अत्याचारियों तथा अविद्वानों का राज्य अधिक समय तक नहीं चला करता।'

'जैसे मांसाहारी पुरुष किसी ह्रष्टपुष्ट जानवर को मार कर खा जाता है, वैसे ही निरंकुश राजा प्रजाजनों का भक्षण कर जाता है। **राज्य पर तो प्रजा का ही आधिपत्य रहना चाहिए।'**

'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए प्रत्युत सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।'

'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी कार्यों में परतन्त्र रहना चाहिए और अपने हितकारी कार्य में स्वतन्त्र रहे।'

'भिन्न भिन्न भाषा पृथक् पृथक् शिक्षा और अलग–अलग रीतिरिवाज खत्म होना दुष्कर है। परन्तु इसके बिना भारत की उन्नति कर पाना भी असंभव है।'

'बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार ने देश को निःशस्त्र और निर्बल बना दिया है। इससे क्षत्रिय धर्म की अपार हानि हुई है।'

भारत सभी भाषाओं और विद्याओं तथा धर्मों का द्गम स्थान है। यहीं से सब विचार ईरान, मिस्त्र और यूनान होकर योरोप तथा अमरीका तक पहुँचे हैं।'

ये थोड़े से उदाहरण हैं जिससे स्वामी जी की राजनीतिक चेतना का स्पष्ट आभास मिलता है। इसमें कहीं भी उनका राजनीतिक स्वार्थ या महत्वांकाक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती। वह केवल विशुद्ध भारतीय चिन्तक और देशभक्त के रूप में राष्ट्रीय स्वाधीनता के सम्बंध में विचार करते हैं। हम देखते हैं कि मेरठ मण्डल के सैनिकों तथा किसानों पर उनके निःस्वार्थ विचारों की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। तभी तो मेरठ के विद्रोही सैनिक बहादुरशाह जफर से कहते हैं कि हम आपसे वेतन नहीं मांगते केवल यह चाहते हैं कि आप हमारा नेतृत्व करें। वेतन के लिए अपार धनराशियां तो वे स्वयं ही उनके कदमों पर न्योच्छावर कर देंगे।'

उनसे पहले किसी ने भी इतनी सफाई के साथ सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार नहीं किये। हो सकता है कि बाबा औघड़नाथ के छद्म नाम पर स्वामी दयानन्द की गतिविधियों का उल्लेख करने पर कुछ पाठक इस लेखक को 'सनकी' होने की संज्ञा दे दें। परन्तु सनकी कहलाने का भय कम पाप है और एक सच्ची बात को उजागर न करना महापाप है। लेखक को ऐसे शंकालु व्यक्तियों से यह पूछने का न्यायोचित अधिकार तो है ही कि जिस व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन खुली पुस्तक के पृष्ठों के समान है उसके १८५६–५७ और ५८ के पृष्ठ उसमें से कहां और कैसे फट गये हैं। उनके जीवन इतिहास में इन तीन वर्षों का कोई विवरण क्यों नहीं मिलता। यह प्रश्न तो बड़ा ही स्वाभाविक है कि जीवन भर सक्रिय रहने वाला यह संन्यासी ३ वर्ष कहां गायब रहा और १० मई १८५७ के उपरांत मेरठ में भी उसकी उपस्थिति का कहीं बोध क्यों नहीं होता?

प्रथम स्वाधीनता संग्राम की विफलता के बाद वह १८५६–६० में विद्याध्ययन के बहाने स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा पहुँचते हैं। परन्तु पढ़ना तो केवल बहाना था। वह जानते थे कि स्वामी विरजानन्द का देश के सभी स्वतन्त्रता सेनानियों से व्यापक सम्पर्क है और राजस्थान के राजपरिवारों के साथ भी उनका घनिष्ठ सम्पर्क है।

परन्तु स्वामी विरजानन्द ने उन्हें एक नयी दिशा दी जिसकी देश को परम आवश्यकता थी। उन्होंने सुझाव दिया कि स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने से पहले उन्हें देशवासियों को इस योग्य बनाना होगा कि वे अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों के घेरे से बाहर निकलें। नवजागरण का यह अभियान यद्यपि कटुता पूर्ण माना जाता है और समाज में तनाव भी उत्पन्न हुआ था, परन्तु लकवा मारे शरीर में तनाव का उत्पन्न होना तो हजार गुना बेहतर है। उन्होंने हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों और सभी भारतीयों को परम्परावाद से हटाकर नयी लीक पर चलने के लिए विवश कर दिया।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि बीसवीं सदी में और १६वीं सदी के अन्त में कांग्रेस ने जितने भी आन्दोलन चलाये और नारे दिये उनके लिए स्वामी जी ने पहले ही आधार तैयार कर दिया था। जिन तीन वर्षों की घटनायें उनकी जीवनी में अनुपलब्ध हैं और रहस्य उत्पन्न करती हैं उनके सम्बन्ध में स्वामी जी ने एक स्थान पर प्रसंगवश बड़ा रोचक विवरण दिया है। उन्होंने लिखा है कि 'उन दिनों मैं नर्मदा के तटों पर और बीहड़ों में भ्रमण करता रहा।'

कोई पूछे तो सही कि स्वामी दयानन्द या बाबा औघड़नाथ नर्मदा के तटों और बीहड़ों में क्यों विचरण कर रहे थे? इसका स्पष्ट उत्तर हमारे पास है और वही उत्तर सटीक भी है। सेनापति तांत्या टोपे के इतिहास में कि प्रसिद्ध मराठा सेनापति बार–बार नर्मदा पार करके दक्षिण की ओर जाना चाहता था। उसकी योजना दक्षिण में अंग्रेजों से लोहा लेने की थी और अंग्रेज उसे नर्मदा पार कर देना नहीं चाहते थे। फिर भी वह वास्तविकता है, कि वह बार–बार नर्मदा पार करना चाहता था और शत्रु उसे बार–बार नर्मदा पार करने से रोकता रहा।

सेनापति तांत्या टोपे की इस घटना को यदि स्वामी जी के नर्मदा तटों पर भ्रमण करने से जोड़कर देखा जाय तो पाठक इसका महत्व समझ सकते हैं कि वह स्वयं भी दक्षिण की ओर क्यों जाना चाहते थे। वास्तव में अजीमुल्ला, नाना साहब, तांत्या टोपे और स्वयं स्वामी जी नर्मदा पार करने के लिए लालायित थे और दक्षिण में मोर्चाबन्दी करने के लिए उत्सुक थे।

दूसरे स्वतंत्रता सेनानी या तो मारे गये थे और या देश से निष्कासित हो गये थे। परन्तु स्वामी जी ने 'वैदिक' धर्म के प्रचारक के रूप में राष्ट्रीय जागरण की ऐसी ज्योति जलायी थी कि आगे चलकर कांग्रेस को लाखों की संख्या में ऐसे प्रशिक्षित एवं समर्पित कार्यकर्ता मिले कि स्वाधीनता आन्दोलन का स्तर अनवरत ऊँचा ही उठता गया।

यहां तक कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में बीसवीं सदी में जो चार 'स्व' अक्षरों वाले वाक्यांश अपनाये गये जैसे–'स्वराज्य', 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेशी' इन चारों का प्रवर्तन सबसे पहले सत्यार्थप्रकाश में ही किया गया है और बाद में इसे पूरे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन ने अपना लिया था। और यही चार नारे जन जागरण के मूल आधार बने।

स्वामी जी की भूल

१८६० के बाद स्वामी जी ने अधिकांश समय भारतीय नरेशों और विशेष रूप से राजस्थान के राजपूत घरानों में इस आशा के साथ बिताया कि उनको चरित्रवान देशभक्त बनाया जा सकता है तथा १८५७ की क्रान्ति के विफल होने के बाद भी यदि वे आपस में जुड़ जायें तो देश का स्वाधीनता आन्दोलन सफल हो सकता है।

परन्तु यह उनकी भूल थी। देशी नरेशों ने १८५७ में अपनी क्रान्तिकारिता का 'अन्तिम' परिचय देकर अपना भाग्य एवं अस्तित्व अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया था। वास्तव में भारतीय सामन्तवाद ने आत्मसर्मपण कर दिया था। उससे किसी क्रान्ति की आशा करना निरर्थक था।

उनकी यह भूल ही अन्त में १८८३ में जोधपुर के एक राजपरिवार में उनकी मृत्यु का कारण बनी। १८५७ के बाद में सम्राटों और नरेशों ने अपने आपको राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विरोध में खड़ा कर लिया था। हां, व्यक्तिगत रूप में कोई राजा और सामन्त क्रान्ति का समर्थक बना रह सकता था। यह उसकी व्यक्तिगत विशेषता थी। परन्तु वर्गरूप में उसने आत्मसमर्पण कर दिया था।

परन्तु बाबा औघड़नाथ के रूप में उन्होंने मेरठ में क्रान्ति का बीजारोपण करके और स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में सत्यार्थप्रकाश की रचना करके जिस राजनीतिक इतिहास की आधारशिला रखी है, उसके लिए भारत सदैव उनका आभारी रहेगा।'

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि मेरठ में प्रथम स्वाधीनता संग्राम संयोजक बाबा औघड़नाथ कोई साधारण साधु नहीं थे और स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से उद्धरण देकर हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि औघड़नाथ छद्म नाम का साधु वास्तव में स्वामी दयानन्द थे। इसके विपरीत असहमति प्रकट करने वालों से हमारा केवल इतना अनुरोध है कि वे यह बताने का कष्ट भी करें कि फिर बाबा औघड़नाथ कौन थे और इनका इतना व्यापक प्रभाव कैसे हो गया कि उनके कहने मात्र से या मेरठ की स्त्रियों द्वारा चूड़ियां पहनने के ताने सुनने मात्र से मेरठ की सेनाओं ने क्रान्ति की तारीख बदल दी। वे कृपया यह भी बतायें कि १० मई के बाद बाबा औघड़नाथ का नाम कहीं सुनाई क्यों नहीं पड़ता और उनका क्या अन्त हुआ?

बाबा औघड़नाथ और कोई नहीं स्वामी दयानन्द ही थे। सम्पूर्णानन्द सरस्वती, स्वामी बिरजानन्द और स्वामी दयानन्द ये साधारण संन्यासी नहीं थे। ये सभी १८५७ के स्वाधीनता आंदोलन के वीर सेनानी थे और श्री अजीमुल्ला इनके सर्वाधिक संगठन शक्ति वाले परम योद्धा थे। हम इसी रूप में उन्हें नमन करते हैं और अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। समय की स्थितियाँ और ऐतिहासिक घटनाएँ इन्हीं तथ्यों की ओर संकेत करती हैं।

स्वतन्त्रता संग्राम में आर्य समाज की भूमिका

– डॉ. रवि प्रकाश

भारत जब आजाद नहीं हुआ था उस समय देश में कई कुरीतियाँ और अन्य सामाजिक बुराइयाँ देश में फैली हुई थीं। इन बुराईयों और कुरीतियों को दूर करने के लिए कई नेताओं ने तरह–तरह के आंदोलन चलाए। ऐसे ही एक सुधारवादी आन्दोलन और कार्यक्रम की शुरूआत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने की थी। यह आंदोलन पाश्चात्य प्रभावों की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू समाज में सुधार के लिए प्रारम्भ हुआ था। आर्य समाजी शुद्ध वैदिक परम्परा में विश्वास करते थे तथा झूठे कर्मकाण्ड व अंधविश्वासों को अस्वीकार करते थे। इसमें छुआछूत व जातिगत भेदभाव का विरोध किया गया तथा स्त्रियों व शूद्रों को भी यज्ञोपवीत धारण करने और वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ आर्य समाज का मूल ग्रन्थ है। आर्य समाज का आदर्श वाक्य है– 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्', जिसका अर्थ है– विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाते चलो।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना की थी। आर्य समाज जैसे जागरूक मंच से उन्होंने देश में फैली कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेंकने के साथ–साथ गुलामी की बेड़ियों से जकड़ी मातृभूमि को विदेशियों से मुक्त कराने का आह्वान किया। स्वामी दयानन्द ने अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिकता देने, वैदिक धर्म को फैलाने तथा भारत व विश्व को जाग्रत करने के लिए जिस संस्था की स्थापना की उसे 'आर्य समाज' कहते हैं। 'आर्य' का अर्थ है भद्र एवं 'समाज' का अर्थ है सभा, अतः आर्य समाज का अर्थ है 'भद्रजनों का समाज' या 'भद्रसभा'।

आगे चलकर व्यवहार के स्तर पर आर्य समाज में दो धाराएं चलीं। एक वर्ग दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज की विचारधारा की ओर चला और दूसरे ने 'गुरूकुल' की राह पकड़ी। यह उल्लेखनीय है कि देश के स्वतंत्रता–संग्राम में आर्य समाज ने संस्था के रूप में तो नहीं, पर सहसंस्था के अधिकांश प्रमुख सदस्यों ने व्यक्तिगत स्तर पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

देश की स्वतन्त्रता में आर्य समाजियों की भूमिका अग्रणी रही है। स्वतंत्रता आंदोलन में आर्य वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दी। महर्षि दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थ आर्याभिविनयः में लिखा है– "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों, हम लोग पराधीन कभी न रहें"। इससे पता लगता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की क्या भावना थी।

राष्ट्र के संगठन के लिए जाति–पांति के झंझटों को मिटाकर एक धर्म, एक भाषा और एक समान वेषभूषा तथा खान–पान का प्रचार किया। आज हिन्दी भारत राष्ट्र की राजभाषा बन चुकी है। किन्तु पूर्व में जब हिन्दी का कोई विशेष प्रचार न था, उस समय महर्षि दयानन्द जी ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने की घोषणा की, स्वयं गुजराती तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान होते हुए भी उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों की हिन्दी में रचना की थी। दीर्घकालीन दासता के कारण भारतवासी अपने प्राचीन गौरव को भूल गये थे इसलिए महर्षि दयानन्द ने उनके प्राचीन गौरव और वैभव का वास्तविक दर्शन करवाया।

सन् 1857 के पश्चात् के क्रांतिकारियों पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का अत्यंत प्रभाव था। क्रांतिकारी विनायक दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल, भाई परमानन्द, सेनापति बापट, मदनलाल धीगंड़ा इत्यादि जैसे शिष्यों ने स्वाधीनता आन्दोलन में कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। इंग्लैण्ड में भारत की स्वतन्त्रता के लिए जितने प्रयास हुए वह श्याम जी कृष्ण वर्मा के 'इण्डिया हाऊस' से हुए। अमेरिका में भारत की स्वाधीनता के लिए जो प्रयास हुए, वे भाई परमानन्द के समर्पण और सहयोग का फल है। डी.ए.वी. कालेज लाहौर में इतिहास और राजनीति के प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार पंजाब के क्रांतिकारियों के मार्गदर्शक रहे हैं।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी सरदार भगत सिंह के दादा जी सरदार अर्जुन सिंह विशुद्ध आर्य समाजी थे। और इनके पिता श्री किशन सिंह भी आर्य समाजी थे, भगत सिंह के विचारों पर भी आर्य समाज के संस्कारों की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सांडर्स को मारकर भगत सिंह आदि पहले तो लाहौर के डी.ए.वी. कालेज में ठहरे, फिर योजनाबद्ध तरीके से कलकत्ता जाकर आर्य समाज में शरण ली और आते समय आर्य समाज के सेवक तुलसीराम को अपनी थाली यह कहकर दे आये थे कि "कोई देशभक्त आये तो उसको इसी में भोजन करवाना"। दिल्ली में भगत सिंह, वीर अर्जुन कार्यालय में स्वामी श्रद्धानन्द और पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के पास ठहरे थे क्योंकि उस समय ऐसे लोगों को ठहराने का साहस केवल आर्य समाज के सदस्यों में ही था।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व लगभग सभी स्थानों में ऐसी स्थिति थी कि कांग्रेस के प्रमुख कार्यक्रताओं को यदि कहीं आश्रय, भोजन, निवास आदि मिलता था, तो वह किसी आर्यसमाजी के घर में ही मिलता था। सरकार के डर से प्रायः दूसरे लोग आश्रय देने का साहस ही न कर पाते थे। हैदराबाद दक्षिण में निजाम सरकार के विरूद्ध (सत्याग्रह चलाकर) जनता के हितों की रक्षा केवल आर्यसमाजियों ने की है। पंजाब केसरी लाला लाजपत राय प्रसिद्ध आर्य समाजी नेता थे। राजस्थान केसरी कुंवर प्रताप सिंह वारहट, पं. राम प्रसाद बिस्मिल, रोशन सिंह, विष्णुशरण और उनके साथी पक्के आर्य समाजी थे, इनके सम्बन्ध में श्री मन्मथ नाथ गुप्त ने जो स्वयं क्रांतिकारी थे, उन्होंने साप्ताहिक हिन्दुस्तान के 13 जुलाई, 1858 के अंक में लिखा था। फांसी के बाद राजेन्द्र लाहिड़ी के शव का तो आर्यसमाजियों ने जुलूस निकाला था तथा सम्मानपूर्वक उसकी अन्तयेष्टि भी की थी। इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में आर्य समाज ने बढ़–चढ़कर हिस्सा ही नहीं लिया अपितु नेतृत्व भी किया है। नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के द्वारा आजाद हिन्द सेना का निर्माण और कार्य इतिहास में एक गौरवशाली स्वर्णिम अध्याय है। उक्त सेना के तीन प्रमुख नायकों में से सहगल आर्यसमाजी परिवार की ही देन थे। उनके पिता महाशय अछरू राम जी जाने माने आर्यसमाजी तथा कानूनविद थे। जब लाल किले में इस सेना पर अभियोग चला, तब इनके बचाव पक्ष के वकीलों की जो कमेटी बनी थी, उसमें बख्सी टेकचन्द तथा दीवान बदरी दास के रूप में आर्यसमाज ने योगदान करके अपनी राष्ट्रनिष्ठा को व्यक्त किया था। इसके अतिरिक्त सामान्य सैनिक के रूप में इस सेना में भर्ती होकर योगदान करने वाले आर्यसमाजियों की संख्या अनगिनत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सशस्त्र क्रान्तिकारी दल के माध्यम से भी आर्यसमाज देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करने वाले देशभक्तों की मुहिम में अग्रिम पंक्ति में खड़ा दिखाई देता है। जिसका फल 15 अगस्त, 1947 की स्वतन्त्रता के रूप में सामने आता है।

स्वदेशी प्रचार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, अछूतो को गले लगाने का कार्य, गोरक्षा, शिक्षा–प्रसार, स्त्री शिक्षा, विधवा उद्धार आदि सभी श्रेष्ठ कार्यों में आर्य समाज अग्रणी रहा है। देश–धर्म के लिए जो भी आन्दोलन और सत्याग्रह हुए हैं उनमें आर्य जन सबसे आगे रहे हैं। आर्य समाज ने देश में अनेक सुधार कार्य किए जिनकी वजह से आज आर्य समाज को देश और विदेश में काफी सम्मान प्राप्त है। देश को आज भी ऐसे ही एक आंदोलन की जरूरत है, जो देश में नैतिकता की लहर ला सके। विशेष ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वामी दयानन्द जी का 'शिक्षा दर्शन' अवश्य पढ़ें।

(लेखक चौधरी बंसी लाल विश्वविद्यालय, भिवानी–हरियाणा में इतिहास विभाग के अध्यक्ष है।)

आर्य समाज मुम्बई की ओर से महर्षि पाणिनि कन्या वेद पाठशाला की ब्रह्मचारिणियों का उपनयन और वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न

POCO
SHOT ON POCO M2

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा स्थापित विश्व की प्रथम आर्य समाज, काकड़वाड़ी, मुम्बई में दिनांक 11 अगस्त, 2022 को महर्षि पाणिनि कन्या वेदपाठशाला की ब्रह्मचारिणियों का उपनयन और वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न हुआ। दक्षिण भारत और महाराष्ट्र की प्रथम आर्य समाज फाउण्डेशन द्वारा संचालित महर्षि पाणिनि वेद पाठशाला संभाजी नगर, औरंगाबाद में चारों वेद का सस्वर वेद पाठ और आर्ष ग्रन्थों का व्याकरण के साथ शिक्षा–दीक्षा दिया जाता है। यह पाठशाला पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी का केन्द्र है।

इस कार्यक्रम का सम्पूर्ण आयोजन आर्य समाज मुम्बई के मैनेजिंग ट्रस्टी डॉ. अश्विनभाई पटेल, प्रधान देशबन्धु शर्मा, मंत्री श्री विजय कुमार गौतम जी ने किया और संस्कार का पौरोहित्य चतुर्वेदी आचार्या नंदिता शास्त्री जी ने किया। मंच का संचालन वैदिक विद्वान्पं. देवदत्त जी शर्मा ने किया। आशीर्वचन आचार्य वागीश जी ने दिया और पं. श्रवण कुमार शर्मा, पं. नीरज शास्त्री विद्या भास्कर, पं. धर्मपाल शास्त्री, पं. योगेश, पं. रमेश, पं. सुरेश शास्त्री, पं. महेन्द्र शास्त्री का सहयोग सराहनीय रहा।

आर्य जगत के विद्वान् वैद्य पं. विज्ञान मुनि जी ने उपस्थित रहकर आशीर्वाद प्रदान किया। इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए कन्या गुरुकुल के अध्यक्ष, आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्ता डॉ. लक्ष्मण माने, अध्यापक मुकेश पाठक शास्त्री, संरक्षिका काजल एवं मंत्राणी अंजू माने सहित अन्य कार्यकर्ताओं ने विशेष पुरुषार्थ किया। कार्यक्रम अत्यन्त सफल रहा।

– विजय गौतम, मंत्री आर्य समाज मुम्बई, मो.:–9819908969

आओ वापस लौट चलें वेदों की ओर

– दीपक कुमार छिल्लर

मच रहा है चारों तरफ पाखण्ड और पाखण्डियों का शोर,
आ चुका है वर्तमान में आधुनिकता का दौर।
है अंधेरा इस जग मे अब घनघोर,
आओ वापस लौट चलें वेदों की ओर।
अब वैदिक संस्कृति यहाँ जरूरी है,
ना माने इनकी शिक्षाओं को तो वैदिक संस्कृति रह जाती अधूरी है।
यहाँ बुढ़े माँ–बाप अब सम्मान कहाँ पाते हैं,
रह गई संस्कारों में ही कही – बात अब बतलाते हैं।
वैदिक संस्कार और संस्कृति हमें भव–सागर पार करायेगी।
युवा वर्ग वैदिक शिक्षा को पाकर अंधकार से मुक्ति दिलायेगी।
नित नये आधुनिक समाज को थमा दो वैदिक शिक्षा की ओर।
आओ वापस लौट चलें वेदों की ओर।।1।।
वैदिक शिक्षाओं पर चलकर देखें तो यह ज्ञान का सागर है।
परिणामों को देखकर पाते यह शत–प्रतिशत उजागर है।
ऋषिवर ने जो राह दिखई है हमें उस पर चलना होगा,
ना माने यदि हम वैदिक शिक्षाओं को तो हाथ हमें मलना होगा।
टूट चुकी उस डोर को अब हम फिर से जोड़ें,
पाखण्डियों की मोहमाया को अब हम सभी छोड़ें।
वैदिक संस्कार हमें ज्ञानवान व सर्वगुण सम्पन्न बनाते हैं,
वैदिक नियमों पर चलने से यह एहसास हम पाते हैं।
उठो! जागो! वेदों को अपने जीवन से जोड़ो,
पाखण्ड और बुराईयों को अपने जीवन से दोड़ो।
बार–बार दे रहा हूँ इस बात पर जोर,
आओ वापस लौट चलें वेदों की ओर।।2।।

म. नं.–1022, ग्राम सभा कालोनी, सरदार पटेल झील के पास,
पूठकलां, दिल्ली–110086, मो.:–990422051

आर्य समाज का विजय पर्व

भारतीय संघ में हैदराबाद राज्य का विलीनीकरण और आर्य समाज की भूमिका

– मनुदेव अभय 'विद्यावाचस्पति'

वेद के अनुयायी और उसके प्रचारकों को सदैव ही संघर्ष करना पड़ा। इसी संघर्ष की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी 'हैदराबाद आर्य सत्याग्रह' (1939) है। कतिपय विद्वान् इस महान् एवं सफल सत्याग्रह को 'हैदराबाद में धर्मयुद्ध" नामक संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं। वस्तुतः यह हमारे गौरवपूर्ण इतिहास का अति महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसे पढ़कर हमारी आने वाली पीढ़ी गर्व से आत्माभिमान अनुभव करेगी।

हैदराबाद (तत्कालीन दक्षिण) आर्य सत्याग्रह वस्तुतः एक युद्ध था जिसे हैदराबाद राज्य में आर्य समाज के अधिकारों और वैदिक धर्म के प्रचार स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए लड़ा गया था। प्रामाणिक तथ्यों के अनुसार आर्य समाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली द्वारा निरन्तर छः वर्ष तक वैध उपायों से इस समस्या के हल का प्रयत्न किया था, किन्तु जब ये सारे उपाय निष्फल हो गए, तब निजाम सरकार ने आर्य समाज को सत्याग्रह करने के लिए बाध्य कर दिया।

आर्य समाज के इस निर्णय से अन्य राजनैतिक दलों तथा साम्प्रदायिक संस्थाओं को बहुत पीड़ा हुई। इन्हें नेतृत्व छिन जाने की वेदना सताने लगी। इस कारण आर्य समाज के इस सत्याग्रह को साम्प्रदायिकता का आवरण देने का असफल प्रयास किया। यह कटु सत्य है कि तुष्टीकरण ही इस देश के विभाजन का एक मात्र कारण सिद्ध हो चुका है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' और 'असत्यमेव न जयते' के मूल सिद्धान्त को मानने वाले उस आर्य समाज के सम्मुख न तो तुष्टीकरण रूपी नाग अपना फन ऊंचा कर पाया और न गिरगिट की तरह रंग बदलने वाली कुटिल चाल ही सफल हुई। इतना ही नहीं इन्हीं तत्वों के कारण आर्य समाज के प्रति लोगों की सहानुभूति को घटाने के स्थान पर बढ़ाया ही। आर्य समाज के नेताओं ने प्रारम्भ से ही इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि यदि किसी हिन्दू राज्य में आर्य समाज पर इसी प्रकार की आपत्ति आती हैं जिस प्रकार की निजाम राज्य में आई थी, तो वे वहां भी इसी उपाय अर्थात् सत्याग्रह धर्म युद्ध का आश्रय लेते। आर्य समाज की घोषणा ने समाज और राष्ट्र के सम्मुख एक स्पष्ट और स्वच्छ विशाल मार्ग प्रस्तुत कर दिया। आर्य समाज ने दाहिने हाथ से कर्म किया और बाएं हाथ में विजय श्री अपनी शोभा बढ़ाने लगी।

हां, जब आर्य समाज की सामनीति जब छः वर्ष पश्चात् भी सफल न हुई तब भी आर्य समाज निराश न हुआ। उन्होंने सर्वप्रथम समस्त आर्य जगत् की सम्मति ज्ञान करने के लिए दिसम्बर, 1938 के अन्तिम सप्ताह में शोलापुर में आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन का आयोजन इस 'नीति के अनुसार था कि सम्भवतः निजाम सरकार के रवैए से आर्य समाज को सत्याग्रह न करना पड़े, किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ और उस निजाम की पूंछ पूर्ववत् टेढ़ी ही रही। अन्ततः आर्य सम्मेलन शोलापुर को अपने समस्त निश्चयों के अनुसार सत्याग्रह की घोषणा करनी पड़ी। इसके सर्वप्रथम सर्वाधिकारी श्री महात्मा नारायण स्वामी जी बनाए गए। इन समस्त निश्चयों में निश्चय क्र० 3 में स्पष्ट कहा गया था 'राज्य अथवा कर्मचारियों को न तो तबलीग शुद्धि मतान्तरण में भाग चाहिए न उसे प्रोत्साहन करना चाहिएं। न जेलों में हिन्दू कैदियों तथा स्कूलों में हिन्दू बच्चों को मुसलमान बनाया जाना चाहिए और न हिन्दू अनाथ, मुसलमानों के सुपुर्द किए जाने चाहिए।" (सन्दर्भ आर्य डायरेक्टरी सन् 1942, प्र० 213)

इस विशाल सत्याग्रह को संचालन हेतु 'सत्याग्रह समिति' नियत की गई। चूंकि इस आन्दोलन के सम्बन्ध में मिथ्या और भ्रमपूर्ण बातें फैलाई जा रही थीं, इसलिए उद्देश्य की पवित्रता के लिए सत्य और अहिंसा का विशुद्ध रूप से पालन अत्यावश्यक कहा गया।

धर्म युद्ध की प्रथम आहूति निश्चयानुसार पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने दिनांक 16–8–39 को कतिपय सत्याग्रहियों के साथ हैदराबाद राज्य में प्रवेश किया। उन्हें प्रथमतः पकड़कर पुलिस निजाम राज्य के बाहर कर गई। किन्तु जब स्वामी जी ने पुनः वहां जाकर सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया, तब उन्हें पकड़ कर एक साल का कारावास दण्ड दिया गया। बस फिर क्या था, दावानल की भांति पूरे देश में जोश फैल गया और जनता बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार हो गई। आर्य समाज भी अंगड़ाई लेकर युद्ध के लिए 'ताल ठोंककर तैयार हो गया। सत्याग्रह के रहस्य को समझकर मार्च 1939 में निजाम सरकार की ओर से समझौते की चर्चा प्रारम्भ हुई, किन्तु 6–4–39 में शोलापुर में अन्तरंग सभा की आवश्यक बैठक हुई। इधर निजाम सरकार पीछे हट गई, इस कारण इसमें कोई विशेष गति नहीं आई।

उधर निजाम सरकार का दमन चक्र प्रबलता से घूमने लगा। ज्यों–ज्यों दमन चक्र बढ़ने लगा, त्यों–त्यों सत्याग्रह में उग्रता और तीव्रता बढ़ने लगी। इधर तुष्टीकरण की नीति वाले दलों ने इसके सम्बन्ध में अनेक भ्रांतिया फैलाना शुरू कर दीं। किन्तु जनता ने आर्य समाज की न्याय–प्रियता, सत्यतापरक अहिंसा का मूल्य का आकलन करना शुरू किया, इस कारण 'तुष्टीकरण' की कुचालें निष्प्रभावी हो गई। अब इस धर्म युद्ध ने और भी व्यापकता प्रकट कर ली। कहते हैं – यह युद्ध इतना व्यापक और इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उन दिनों देश की सार्वजनिक हलचलों में इसके सिवा और कोई हलचल सर्वोपरि न थी। सभी भाषायी तथा आंग्ल–पत्रों में इस युद्ध के अतिरिक्त कोई चर्चा न थी। यह ध्यान रखने का तथ्य है कि देश के अग्रणियों की चिन्ता का कोई विषय था तो केवल यह युद्ध था। यह युद्ध और इसकी चर्चा भारत की सीमा तक ही सीमित न रही वरन् समुद्र पार पार्लियामेण्ट के भवनों तक जा पहुंची।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञाओं और निर्देशों को आर्य जनता ने बड़ी तत्परता और सम्मान के साथ ग्रहण किया। यह एक ऐतिहासिक वस्तु बन गई। जब युद्ध अपने चरम पर था। उस समय 2000 सत्याग्रही शिविरों में पड़े हुए आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। इनमें हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान तथा ईसाई बन्धु थे। हमारे अनुशासन एवं संयम की सभी आंग्ल–पत्र तथा भाषायी पत्र भूरि–भूरि प्रशंसा कर रहे थे। विशेषकर हिन्दू जनता ने आर्य समाज की विपत्ति को अपनी विपत्ति समझा और उसका निवारण उन्होंने आर्य समाज तथा आर्य समाजियों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाया और ऐसा कौन सा त्याग था जो उसने इस अवसर पर न किया हो।

'असत्यमेव न जयते' के अनुसार आर्य समाज रूपी श्रीकृष्ण का पांचजन्य शंख एक बार पुनः ध्वनित हो उठा और उसने विजय की घोषणा की। निजाम सरकार ने आर्य समाज के इस सत्याग्रह के सम्मुख घुटने टेक दिए और उसने 'सुधारों की घोषणा की। यह घोषणा 20 जुलाई सन् 1939 को की थी। इसके पूर्व दिनांक 17 जुलाई 1939 को निजाम सरकार ने अपना निर्णय प्रकट कर दिया था। इधर सभा और निजाम सरकार के अधिकारियों के मध्य पर्याप्त पत्राचार और बातचीत हुई। अन्त में 8 अगस्त 1939 को निजाम सरकार ने यह वक्तव्य जारी किया 'निजाम सरकार ने अपने 17–7–39 के वक्तव्य में कुछ मामलों की बाबत अपनी आम स्थिति स्पष्ट की थी जिसके सम्बन्ध में भ्रम फैला हुआ था। इसके बाद सुधार योजना प्रकाशित हुई थी। इन वक्तव्यों के कुछ अंशों का कई जगहों से स्पष्टीकरण चाहा गया है। इसलिए सर्वसाधारण की सूचना के लिए स्पष्टीकरण प्रकाशित किया जाता है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने नागपुर की अपनी ऐतिहासिक बैठक में निजाम सरकार के उपर्युक्त वक्तव्य पर विचार करके सत्याग्रह बन्द करने की घोषणा की। (द्र० आर्य डायेरक्ट्री पृ० 221)। निजाम सरकार ने 17 अगस्त 1939 निजाम महोदय के वर्षगांठ के उपलक्ष्य में समस्त सत्याग्रहियों को मुक्त किया और उनका मार्ग व्यय भी दिया। इस सफलता के लिए श्री घनश्याम सिंह गुप्त और श्री देशबन्धु गुप्त द्वारा की गई मूल्यवान सेवाओं की सराहना करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

इस धर्मयुद्ध के मुख्य नायक स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी कार्यकर्ता प्रधान – सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा रहे। कुल आठ सर्वाधिकारियों ने सत्याग्रह का नेतृत्व किया। उनके नाम ये हैं – 1. श्री महात्मा नारायण स्वामी जी, 2. कुं० चांदकरण जी शारदा, 3. लाला खुशहालचन्द खुर्सद– (बाद में आनन्द स्वामी), 4. श्री राजगुरु, पं० धुरेन्द्र जी शास्त्री, 5. पं० वेदव्रत (बिहार), 6. महाशय कृष्ण जी, 7. पं० ज्ञानेन्द्र जी (गुजरात) और 8. श्री विनायक राव जी बार–एट–लॉ।

इस सत्याग्रह में कुल 10579 सत्याग्रही जेल गए थे। इसके अतिरिक्त 2000 सत्याग्रही वे थे जो 8–8–39 से पूर्व केन्द्रों में पहुंच गए थे और आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे।

इस धर्मयुद्ध में आर्य जगत का लगभग 11 लाख रुपया (तत्कालीन मूल्य के अनुसार – 1939) व्यय हुआ। इस थोड़े से समय में 28 व्यक्तियों ने जेल यातनाओं के कारण परलोक की यात्रा की। इस प्रकार आर्य समाज द्वारा छेड़ा गया यह धर्म युद्ध जो कि अज्ञान, अन्याय और अभाव के विरुद्ध प्रारम्भ हुआ था, परमात्मा की कृपा सत्याग्रहियों के तप–त्याग तथा महान बलिदानियों के कारण सुखद अन्त के रूप में विजय श्री को प्राप्त कर सका। इन सभी श्रेष्ठ आत्माओं के प्रति आभार तथा प्रणाम।

आर्य समाज की यह विजयश्री सन् 1947 में प्राप्त स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की 556 रियासतों के एकीकरण में अमृत सिद्ध हुई। सरदार बल्लभभाई पटेल ने जब देश की रियासतों के भारतीय संघ में विलीन करने की योजना बनाई, तब निजाम सरकार ने अपनी वही टेढ़ी पूंछ और भी टेढ़ी करना शुरू कर दी। फिर क्या था ..

13 सितम्बर 1948 को रजाकार सरगना कासिम रिजवी ने रियासत में कत्ले आम को 'जिहाद' का नाम दे दिया। इसके पूर्व 13 मार्च 1948 को उसने कहा – 'मुसलमानों ! जिहाद शुरू करो। सभी हिन्दुस्तानी मुस्लिम हमारे लिए फिस्थ कालमिस्ट (पंचमार्गीय) का काम करेंगे। यदि हिन्दुस्तान ने हैदराबाद पर हमला किया, तो उसे डेढ़ करोड़ हिन्दुओं की हड्डियां ही मिलेंगी" इधर 11 सितम्बर 1948 को मियां जिन्ना अल्ला को प्यारे हो गए। इधर कासिम रिजवी ने 2 लाख 52 हजार सशस्त्र सैनिकों के साथ युद्ध छेड़ दिया। उसके साथ आस्ट्रेलियाई हवाबाज सिटनी कॉटन तथा ब्रिटिश लेफ्टिनेंट टी०टी० मूर, मेजर जनरल एल० एंड्रज निजाम के पक्ष में मुस्लिम सेना की ओर से युद्धरत थे।

भारतीय सेना का नेतृत्व लेफ्टिनेन्ट राजेन्द्र सिंह तथा मेजर जनरल मि० चौधरी कर रहे थे। 13 सितम्बर 1948 को भारतीय सेना ने अपने 5 दिवसीय 'पोलो ऑपरेशन' के अन्तर्गत कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसी दिन जल दुर्ग पुल को जीतकर टी०टी० मूर को गिरफ्तार कर लिया। उसके 632 सैनिक मारे गए। भारतीय सेना के मेवाड़ के राजपूत सैनिकों ने तुलजापुर जीत लिया यहां एक महत्वपूर्ण घटना घटी।

तुलजापुर मोर्चे पर रजाकारों के साथ पठान सैनिक तथा 4 रजाकार स्त्रियां भी लड़ाई में भाग ले रहीं थीं। इन भारतीय सैनिकों ने तुलजापुर जीत लेने के बाद इन चार स्त्रियों पर न तो हाथ उठाया और न उनका अपमान किया और न उन्हें गिरफ्तार किया। तब वे सशस्त्र रजाकार स्त्रियां स्वयं ही चकित–स्तम्भित होती हुई अपने पड़ाव (कैम्प) पर लौट गईं। (शत्रु की स्त्रियों पर हथियार न उठाना यह हिन्दुत्व की ही विशेषता है, जो हैदराबाद के युद्ध (1948) में भी व्यक्त हुई।)

आततायी रजाकारों ने भारतीय एजेंट जनरल के०एम० मुंशी को कैद कर रखा था। भारतीय सेना ने अपने पांचों मोर्चे जीतकर तत्काल श्री के०एम० मुंशी को कैद से छुड़ाया। 18 सितम्बर 1948 को मेजर जनरल एंड्रज ने हैदराबादी फौजों का बिना शर्त समर्पण कर भारत में हैदराबाद के पूर्ण विलय को स्वीकार किया। इस विलय का श्रेय सरदार वल्लभभाई पटेल को ही था। विलय के पश्चात् श्री वल्लभ भाई पटेल ने ठीक ही कहा था – 'यदि आर्य समाज 1939 में निजाम पर विजय प्राप्त नहीं करता तो बड़ा कठिन हो जाता। आर्य समाज के उस सफल आर्य सत्याग्रह का ही सुपरिणाम निकला कि हमने निजाम राज्य पर इतनी जल्दी विजय प्राप्त की। आर्यसमाज के समस्त आत्म बलिदानियों तथा सन् 1948 में हैदराबाद युद्ध के समस्त वीर सैनिकों को हमारा बारम्बार प्रणाम।

– 'सुकिरण' अ 193, सुदामा नग,
इन्दौर (मध्य प्रदेश)

सोशल मीडिया के माध्यम से स्वामी आर्यवेश जी से जुड़ें

आर्य समाज के त्यागी, तपस्वी एवं तेजस्वी संन्यासी स्वामी आर्यवेश जी से जुड़ने के लिए इस लिंक पर क्लिक करें :- ***www.facebook.com/SwamiAryavesh*** व फेसबुक पेज को लाइक करें तथा अन्य मित्रों को भी प्रेरित करें।

ई–मेल : aryavesh@gmail.com

Tel. :-011-23274771

प्रतिष्ठा में :–

अवितरण की दशा में लौटाएँ –
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
"दयानन्द भवन" 3/5 आसफ अली रोड, नई दिल्ली–110002

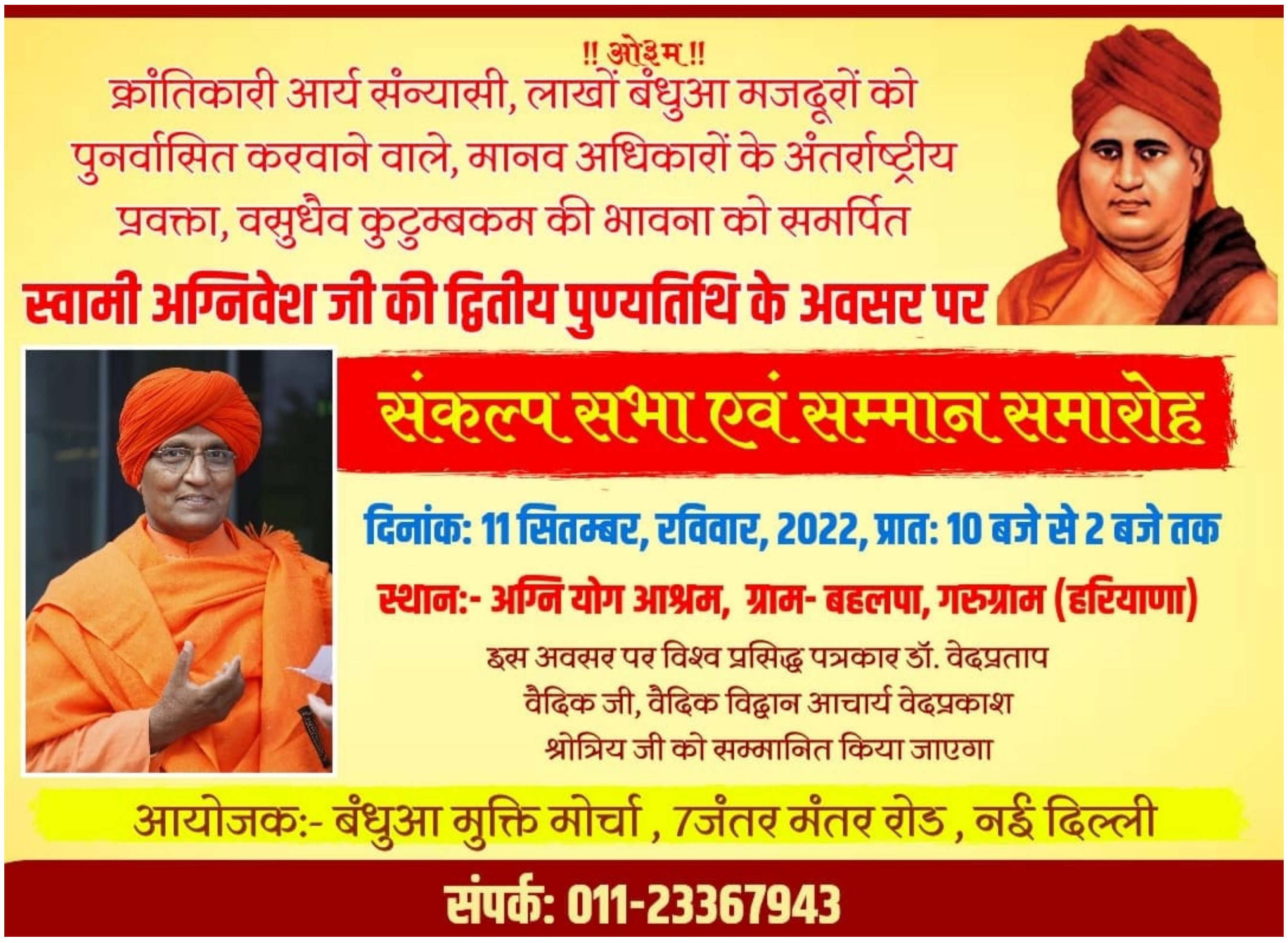

!! ओ३म !!

क्रांतिकारी आर्य संन्यासी, लाखों बंधुआ मजदूरों को पुनर्वासित करवाने वाले, मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय प्रवक्ता, वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को समर्पित

स्वामी अग्निवेश जी की द्वितीय पुण्यतिथि के अवसर पर

संकल्प सभा एवं सम्मान समारोह

दिनांक: 11 सितम्बर, रविवार, 2022, प्रात: 10 बजे से 2 बजे तक

स्थान:- अग्नि योग आश्रम, ग्राम- बहलपा, गरुग्राम (हरियाणा)

इस अवसर पर विश्व प्रसिद्ध पत्रकार डॉ. वेदप्रताप वैदिक जी, वैदिक विद्वान आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय जी को सम्मानित किया जाएगा

आयोजक:- बंधुआ मुक्ति मोर्चा, 7जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

संपर्क: 011-23367943

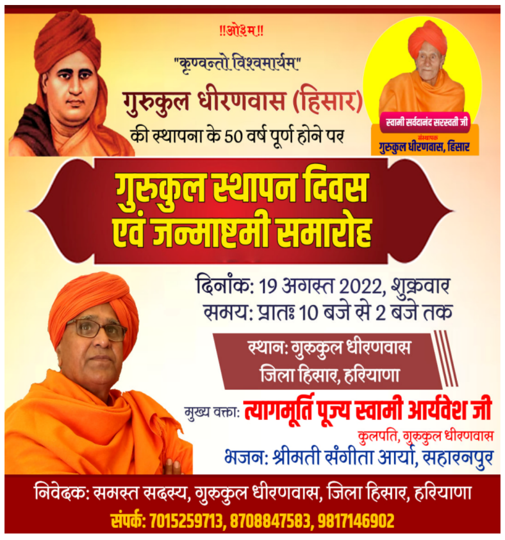

!!ओ३म!!

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम"

गुरुकुल धीरणवास (हिसार) की स्थापना के 50 वर्ष पूर्ण होने पर

स्वामी सर्वदानंद सरस्वती जी
संस्थापक
गुरुकुल धीरणवास, हिसार

गुरुकुल स्थापन दिवस एवं जन्माष्टमी समारोह

दिनांक: 19 अगस्त 2022, शुक्रवार
समय: प्रातः 10 बजे से 2 बजे तक

स्थान: गुरुकुल धीरणवास
जिला हिसार, हरियाणा

मुख्य वक्ता: **त्यागमूर्ति पूज्य स्वामी आर्यवेश जी**
कुलपति, गुरुकुल धीरणवास

भजन: श्रीमती संगीता आर्या, सहारनपुर

निवेदक: समस्त सदस्य, गुरुकुल धीरणवास, जिला हिसार, हरियाणा
संपर्क: 7015259713, 8708847583, 9817146902

।।ओ३म्।।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा 25 हजार वेद सैट प्रकाशित करने की महत्त्वाकांक्षी योजना

वेदा:
ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

घर–घर तक पहुँचाई जायेगी परमात्मा की वेद वाणी

चारों वेदों का सम्पूर्ण हिन्दी भाष्य

भारी छूट पर उपलब्ध

(महर्षि दयानन्द, तुलसीराम स्वामी एवं पं. क्षेमकरण दास कृत)

(10 खण्ड, 9 जिल्दों में)

मात्र 3100/– में

एक वेद सैट मात्र 3100/– रुपये में उपलब्ध है।

10 अथवा उससे अधिक वेद सैट लेने पर लागत मूल्य 4100/– रु. में 30 प्रतिशत की छूट दी जायेगी

प्रत्येक आर्य समाज, स्कूलों के पुस्तकालयों, वाचनालयों तथा प्रत्येक घर में परमात्मा की वाणी वेदों का होना आवश्यक है। अधिक से अधिक संख्या में अग्रिम आदेश भेजकर भारी छूट का लाभ उठायें। डाक व्यय 300/- रुपये अलग से देना होगा। प्रारम्भिक स्तर पर 25 हजार वेद सैट प्रकाशित करने की योजना क्रियान्वित [illegible] **'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा'** के नाम चैक/बैंक ड्राफ्ट द्वारा "दयानन्द भवन" 3/5 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-2 के पते पर अग्रिम भेजकर अपना वेदों का सैट बुक करा सकते हैं।

–: प्रकाशक :–

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, "दयानन्द भवन" 3/5 आसफ अली रोड, नई दिल्ली–110002 ● दूरभाष :– 011–23274771

स्वामी दयानन्द जी के अनमोल वचन

- मुझे सत्य का पालन करना पसंद है; बल्कि, मैंने औरों को उनके अपने भले के लिए सत्य से प्रेम करने और मिथ्या को त्यागने के लिए राजी करने को अपना कर्त्तव्य बना लिया है. अत: अधर्म का अंत मेरे जीवन का उदेश्य है।
- अगर आप पर हमेशा ऊँगली उठाई जाती रहे तो आप भावनात्मक रूप से अधिक समय तक खड़े नहीं हो सकते।
- अज्ञानी होना गलत नहीं, अज्ञानी बने रहना गलत है।
- कोई मूल्य तब मूल्यवान है जब मूल्य का मूल्य स्वयम के लिए मूल्यवान हो।
- नुक्सान से निपटने में सबसे जरूरी चीज है उससे मिलने वाले सबक को न भूलना, वो सही मायने में आपको विजेता बनाता है।
- कोई भी मानव हृदय सहानुभूति से वंचित नहीं है। कोई धर्म उसे सिखा–पढ़ा कर नष्ट नहीं कर सकता। कोई संस्कृति, कोई राष्ट्र कोई राष्ट्रवाद– कोई भी उसे छू नहीं सकता क्योंकि ये सहानुभूति है।
- क्योंकि मनुष्यों के भीतर संवेदना है, इसलिए अगर वो उन तक नहीं पहुँचता जिन्हें देखभाल की ज़रुरत है तो वो प्राकृतिक व्यवस्था का उल्लंघन करता है।
- लोगों को कभी भी चित्रों की पूजा नहीं करनी चाहिए। मानसिक अन्धकार का फैलाव मूर्ति पूजा के प्रचलन की वजह से है।
- अगर मनुष्य का मन शान्त है, चित्त प्रसन्न है, हृदय हर्षित है तो निश्चय ही ये अच्छे कर्मों का फल है।

–स्वामी दयानन्द सरस्वती

प्रो० विट्ठलराव आर्य, सभा मंत्री, प्रकाशक व मुद्रक द्वारा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, 3/5 महर्षि दयानन्द भवन, (रामलीला मैदान/आसफ अली रोड), नई दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित तथा ज्योति प्रिंटिंग प्रेस, ई-94, सैक्टर-6, नोएडा-201301 से प्रकाशित एवं मुद्रित। (दूरभाष : 011-23274771)
सम्पादक : प्रो० विट्ठलराव आर्य (सभा मन्त्री) मो.:0-9849560691, 0-9013251500 ई-मेल : *sarvadeshik@yahoo.co.in, sarvadeshikarya@gmail.com* वैबसाइट : *www.vedicaryasamaj.com*

वैदिक सार्वदेशिक साप्ताहिक में छपे लेखों तथा विचारों से सम्पादक या सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की सैद्धान्तिक मतैक्यता होना अनिवार्य नहीं है।